विवेक-ज्योति
हिन्दी त्रैमासिक
वर्ष : २६ : अंक ४
रामकृष्ण मिशन
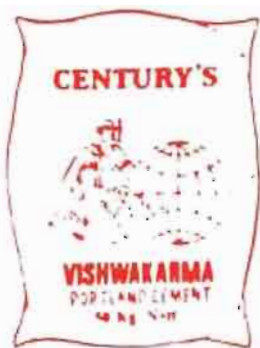
विवेक-ज्योति

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द-भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी त्रैमासिक

अक्तूबर-नवम्बर-दिसम्बर

* १९८८ *

स्वामी विवेकानन्द १२५ वीं जयन्ती विशेषांक

सम्पादक एवं प्रकाशक

स्वामी आत्मानन्द

व्यवस्थापक

स्वामी श्रीकरानन्द

वार्षिक १०)

एक प्रति ३)

इस विशेषांक का मूल्य–५)

आजीवन ग्राहकता शुल्क (२५ वर्षों के लिए)–१००)

रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम

रायपुर-४९२००१ (म.प्र.)

दूरभाष : २४५८९

विवेक-ज्योति के आजीवन सदस्य

८३वीं तालिका

(३१ जुलाई १९८८ तक)

२९४९. श्री मोहन एम. केला, इन्दौर।
२९५०. श्री रमेश कुमार सहगल, नई दिल्ली।
२९५१. श्री जे. के. धर्मादा ट्रस्ट, गुढ़ियारी, रायपुर।
२९५२. श्री कैलाशसिंह, बीकानेर।
२९५३. श्री ज्ञानेश्वर बापुजी भेरगडे, चद्रपुर (महाराष्ट्र)।
२९५४. श्री अनिल कुमार शर्मा, विश्रामपुर (सरगुजा)।
२९५५. श्री मोहन कुमार पाण्डेय, कोरबा (बिलासपुर)।
२९५६. श्री रामपालजी मेवाड़ा, महू (म.प्र)।
२९५७. श्री ओ. पी शर्मा, चेनानी (उधमपुर)।
२९५८. श्री शेखर, गरियाबंद (रायपुर)।
२९५९. ठाकुर सुरेन्द्र कुमार सिंह, महंत (बिलासपुर)।
२९६०. श्री सुरेश उपाध्याय, कोठी बाजार (होशगाबाद)।
२९६१. श्री बहादुर सैनी, सदर बाजार (होशगाबाद)।
२९६२. श्री आनन्द कुमार मिश्रा, सिवनी-मालवा (होशगाबाद)
२९६३. कु. मनस्वी गौर, मंगलवारा, होशंगाबाद।
२९६४. कु. ममता मिश्रा, विन्ध्य नगर (सीधी)।
२९६५. कु. विजय लक्ष्मी जैन, होशगाबाद।
२२६६. प्रधान पाठक, शा. पू. मा. वि. वैगन रिपेयर शाप कालोनी, रायपुर।
२९६७. डा. (श्रीमती) सुगन्धा फडके, रीवा।
२९६८. डा. (कु.) चन्दा रजक, रीवा।
२९६९. श्री श्रीरग मिश्रा, इलाहाबाद।
२९७०. श्री साधु सत्यप्रकाश दास, गठडा (गुजरात)।
२९७१. श्री कानसिह पँवार, बीकानेर (राजस्थान)।
२९७२. श्री जवाहर एम. गोंडलिया, जेतपुर (राजकोट)।
२९७३. श्री भुवनेश्वरानंद, जलहलकुकुरमडा (राजनांदगाँव)।
२९७४. श्री बी. एल. गुप्ता, मनावर (धार)।

○

अनुक्रमणिका

ग्राहकों को विशेष सूचना

(१) जिन ग्राहकों का वार्षिक चन्दा इस चतुर्थ अंक के साथ समाप्त हो रहा है, वे कृपया अगले वर्ष के लिए अपने चन्दे का १०) संलग्न मनीआर्डर फार्म द्वारा भिजवा दें। आप में से जिनका सम्पूर्ण चन्दा जमा नहीं है, वे भी कृपया संलग्न मनीआर्डर फार्म में दर्शायी बकाया राशि भेजकर वर्ष की अपनी समस्त प्रतियाँ सुरक्षित करवा लें।

(२) ग्राहकों से निवेदन है कि वे मनीआर्डर के कूपन में भी अपना नाम और पूरा पता स्पष्ट रूप से अवश्य लिखें। पुराने ग्राहक अपनी ग्राहक-संख्या का भी अवश्य उल्लेख करें तथा नये ग्राहक लिख दें––"नया ग्राहक"। यदि पुराने ग्राहकों को अपनी ग्राहक-सख्या का स्मरण न हो, तो वे कृपया लिखें–– "पुराना ग्राहक"।

(३) **पत्र लिखते समय अपनी ग्राहक-संख्या तथा अपने नाम और पूरे पते का स्पष्ट रूप से अवश्य उल्लेख करें।**

व्यवस्थापक,
'विवेक-ज्योति'

"आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय च"

विवेक-ज्योति

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द-भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी त्रैमासिक

२६] अक्तूबर-नवम्बर-दिसम्बर [अंक ४

★ १९८८ ★

विवेकानन्द-वाणी चतुर्दिक् फैले

भवतु भवतु दीप्तिः शुद्धवर्णाश्रमाणां
चरतु चरतु धर्मो वैदिकः शान्तिसारः।
लसतु लसतु पुण्यो यज्ञकार्यप्रभावो
भुवि विलसतु मान्या श्रीविवेकस्य वाणी ।।

—यथार्थ वर्ण और आश्रम के धर्म दीप्तिमान बनें; वैदिक धर्म जिसका सार शान्ति है, आचरण में उतरे; त्यागरूप यज्ञकर्म की पुनीत महिमा चमके; श्री विवेकानन्द की महान् वाणी विश्व में सर्वत्र सम्मानित हो। —प्रो० रवीन्द्र कुमार सिद्धान्तशास्त्री

स्वामी विवेकानन्द और हमारा युग

सम्पादकीय

१९८८ का यह वर्ष स्वामी विवेकानन्द के १२५वें जन्म-महोत्सव का वर्ष है । विश्व में जहाँ-जहाँ स्वामीजी के अनुयायी और भक्त हैं, वहाँ उनकी यह १२५वीं जयन्ती विविध कार्यक्रमों के साथ सोल्लास मनायी जा रही है । स्वामीजी का इस धराधाम पर आगमन १२ जनवरी १८६३ को हुआ था । सवा सौ वर्ष के इस कालखण्ड ने विश्व में बहुत से उतार-चढ़ाव देखे हैं । हमारे अपने देश के लिए तो यह कालखण्ड बड़े महत्त्व का रहा है, क्योंकि इसी बीच शत-शत वर्षों की दासता का काल समाप्त हुआ और हमारे देश को आजादी मिली । इस आजादी को पाने में जिन सब लोगों का योगदान रहा, उनमें से अधिकांश अपनी प्रेरणा का उत्स स्वामी विवेकानन्द में पाते हैं ।

महात्मा गाँधी ने कहा था, "मैंने स्वामी विवेकानन्द के ग्रन्थों को बहुत अच्छी तरह पढ़ा है । फलस्वरूप, अपने देश के प्रति मेरा जो प्रेम था, वह हजारगुना बढ़ गया है ।"[1] लोकमान्य तिलक ने उनके देहावसान पर अपनी श्रद्धांजलि अर्पित करते हुए लिखा था, "... १९वीं शताब्दी को आधिभौतिक शास्त्रों के उत्कर्ष का उच्च स्थान माना गया है । इस प्रकार की शताब्दी के उत्तरार्ध में, हजारों वर्ष पूर्व भारतवर्ष में प्रचलित आध्यात्मिक शास्त्रों को पश्चिमी राष्ट्रों के विद्वानों को समझाकर उनसे इन शास्त्रों की अपूर्वता के सम्बन्ध में मान्यता प्राप्त करना, और जिस राष्ट्र में इस प्रकार के शास्त्र ग्रथित हुए हैं वहाँ के निवासियों के प्रति सहानुभूति उत्पन्न करना यह कोई छोटा-मोटा काम नहीं है । पाश्चात्य आधिभौतिक शास्त्रों का प्रवाह अँगरेजी विद्या के साथ इतने जोरों से आ रहा था कि उसे रोकने के लिए एक असामान्य धैर्य और बुद्धि वाले पुरुष के आविर्भाव की आव-

---

१. रोमाँ रोलाँ : 'प्राफेट्स ऑफ दि न्यू इंडिया', पार्टीक्लगी, पृष्ठ ५०१-०२ ।

श्यकता थी ।...यह कार्य विवेकानन्द ने ही अपने हाथों में लिया । ...अगर हमारे सौभाग्य से वे और भी कुछ दिन हमारे बीच रहते, तो राष्ट्र को राष्ट्रीयत्व प्राप्त करने के लिए जिस तेज की आवश्यकता होती है, वह हमें उनसे अवश्य प्राप्त हुआ होता ।"[२] पण्डित जवाहरलाल नेहरू ने कहा था, "पता नहीं कि आज की पीढ़ी में से कितने लोग स्वामी विवेकानन्द के व्याख्यानों और लेखों को पढ़ते हैं । पर मैं यह कह सकता हूँ कि मेरी पीढ़ी के बहुत से लोगों पर उनका बहुत सशक्त प्रभाव पड़ा था । ...यदि आप स्वामी विवेकानन्द की रचनाओं और व्याख्यानों को पढ़ें, तो आप यह विचित्र बात पाएंगे वे पुराने नहीं हैं ।...वे आज भी ताजा हैं, क्योंकि उन्होंने जिन विषयों पर लिखा या कहा, वे हमारी समस्याओं अथवा विश्व की समस्याओं के मूलभूत पहलुओं से सम्बन्धित हैं ।... अतः स्वामीजी ने जो कुछ लिखा या कहा, वह हमारे हित में है और वह आनेवाले लम्बे समय तक हमें प्रभावित करता रहेगा । वे साधारण अर्थ में कोई राजनीतिज्ञ नहीं थे, फिर भी, मेरी राय में, वे भारत के राष्ट्रीय आन्दोलन के महान् संस्थापकों में से एक थे, और आगे चलकर जिन लोगों ने आन्दोलन में थोड़ा या बहुत सक्रिय भाग लिया, उनमें से अनेक के प्रेरणास्रोत स्वामी विवेकानन्द थे ।"[३] नेहरूजी ने विवेकानन्द की जन्म-शताब्दी के अवसर पर सन्देश देते हुए लिखा था, "इस अवसर पर मैं भारतमाता की इस महान् सन्तान के प्रति अपनी श्रद्धांजलि अर्पित करता हूँ, जिसने हमारे देशवासियों में एक नया जीवन स्पन्दित किया...।"[४] योगी अरविन्द लिखते हैं, "यदि कभी

२. 'केसरी' (मराठी), सम्पादकीय, ८ जुलाई १९०२ ।
३. जवाहरलाल नेहरू : 'श्री रामकृष्ण ऐण्ड स्वामी विवेकानन्द', कलकत्ता, १९६०, पृ. ४-६ ।
४. 'प्रबुद्ध भारत' (अंगरेजी मासिक), कलकत्ता, फरवरी १९६३, पृ. ४३ ।

कोई शौर्यपुरुष था, तो वह विवेकानन्द थे । वे पुरुषों में सिंह थे । हम उनके प्रभाव को अभी भी शक्तिशाली रूप से कार्य करते हुए पाते हैं—पता नहीं कैसे, कहाँ, ऐसे कुछ में, जो अभी रूपायित नहीं हुआ है । वह सिंहसदृश, महाबली, अन्तःप्रज्ञ, उत्तोलक प्रभाव भारत की आत्मा में प्रविष्ट हो गया है और हम कह सकते हैं—देखो ! मातृ-भूमि और उसकी सन्तानों की आत्मा में विवेकानन्द आज भी विद्यमान हैं ।"[५] नेताजी सुभाषचन्द्र बोस ने अपने एक पत्र में लिखा, "...उन्होंने (विवेकानन्द ने) अपने समूचे जीवन को समग्र राष्ट्र एवं मानवता के नैतिक तथा आध्यात्मिक उत्थान के लिए समर्पित कर दिया था । ...आधुनिक भारत उन्हीं की सृष्टि है ।"[६] चक्रवर्ती राजगोपाला-चारी ने लिखा था, "स्वामी विवेकानन्द ने हिन्दू धर्म को बचाया और इस प्रकार भारत की रक्षा की । वे न होते, तो हम अपना धर्म गँवा बैठते और आजादी नहीं पा सकते थे । अतएव हम सभी बातों के लिए विवेकानन्द के ऋणी हैं ।"[७] रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने लिखा था, "(विवेकानन्द का) कितना उदात्त सन्देश है ।...वह हमारे समग्र मनुष्यत्व को जगाने की पुकार है । उसने हमारे बहुत से युवकों को कर्म, त्याग और बलिदान के माध्यम से स्वातंत्र्य के विभिन्न पथों पर चलने की प्रेरणा दी ।"[८] भारत के भूतपूर्व राष्ट्रपति डा० राजेन्द्र प्रसाद ने कहा, "ऐसे लोग अत्यन्त इने-गिने हैं, जो अपने मानव-बन्धुओं का जीवन के किसी क्षेत्र में नेतृत्व करते हैं, और जो इन

---

५. अरविन्द : 'बंकिम, तिलक, दयानन्द' ।

६. 'मराठा' (अँगरेजी) के श्री ए.आर. भट्ट को ३-५-१९३२ को लिखित ।

७. 'स्वामी विवेकानन्द सेंटीनरी मेमोरियल वाल्यूम' (अँगरेजी) कलकत्ता, १९६३. 'होमेज' ।

८. 'प्रवासी' (बँगला), खण्ड २८, भाग १, पृ. २८३ ।

अग्रेसरों का मार्गदर्शन करते हैं, वे तो और भी विरल हैं । ऐसे अति-नेताओं का डूबती हुई मानवता को उठाने के लिए पृथ्वी पर आगमन बार-बार नहीं हुआ करता । स्वामी विवेकानन्द ऐसे ही अति महान् आत्माओं में एक थे।"[९] भारत के राष्ट्रपति डा० एस. राधाकृष्णन् ने कहा, "उन्होंने दुःख में हमें धीरज दिया, हताशा में आशा दी और दुर्बलता के क्षणों में साहस प्रदान किया।"[१०] श्रीमती विजयलक्ष्मी पण्डित ने विवेकानन्द को 'नव भारत एवं नव विश्व का मसीहा' निरूपित करते हुए कहा, "आधुनिक भारत के निर्माताओं में एक, स्वामी विवेकानन्द, भारतीय पुनर्जागरण आन्दोलन के, जो उन्नीसवीं शती के प्रारम्भ में राममोहन राय से शुरू हुआ, सुन्दरतम विकसित पुष्प थे।"[११] भारत के भूतपूर्व वित्तमंत्री मोरारजी आर. देसाई ने कहा, "उन्होंने पहली बार भारत को विश्व के नक्शे में रखा. . . ।"[१२]

ऐसे कितने ही उद्धरण उन महान् व्यक्तियों के दिये जा सकते हैं, जिन्होंने राजनीति के क्षेत्र में अपना सर्वस्व मातृभूमि की बलिवेदी पर चढ़ा दिया और जो अपने ऊपर विवेकानन्द का असंख्य ऋण मानते रहे । यद्यपि स्वामीजी ने अपने को कभी राजनीति क्षेत्र का मसीहा नहीं माना और अपने नाम का राजनीति में घसीटा जाना पसन्द नहीं किया, पर इसका तात्पर्य यह नहीं लिया जाना चाहिए कि उन्होंने राजनीतिक पलायनवाद को प्रश्रय दिया, जैसा कि उनके कुछ समालोचक कहने के आदी हैं । स्वामीजी भी भारत का राज-

९. 'बुलेटिन ऑफ दि रामकृष्ण मिशन इंस्टीट्यूट ऑफ कल्चर' (आगे 'बुलेटिन' से अभिहित), मार्च १९६३, पृ. १४९ ।

१०. 'प्रबुद्ध भारत', फरवरी १९६३, पृ. ४६ ।

११. वहीं, मई १९६३, पृ. १९४—९६ ।

१२. 'वेदान्त केसरी' (अँगरेजी मासिक), मद्रास, फरवरी १९६३, पृ. ४४० ।

नैतिक स्वातंत्र्य चाहते थे, पर इसके लिए उन्होंने धर्म और अध्यात्म का मंच चुना था । 'कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इंडिया' लिखता है, "स्वामी विवेकानन्द ने. . .धर्म की प्रवृत्ति से युक्त राष्ट्रवाद का उपदेश दिया ।"[१३] सिंगापुर के सांस्कृतिक मंत्री एस. राजरत्नम् ने अपने एक भाषण में कहा, "यद्यपि स्वामी विवेकानन्द ने अपने को राजनीति में कभी नहीं फँसाया, तथापि उन्होंने उस समय रूप लेने-वाले राष्ट्रवादी आन्दोलन एवं राष्ट्रीय पुनर्जागरण को प्रेरणा प्रदान की । अनेक युवा राष्ट्रवादियों के लिए वे उठनेवाली राष्ट्र-चेतना की लहर के प्रतीक बन गये ।"[१४] मद्रास विश्वविद्यालय के दर्शन विभाग के अध्यक्ष डा० टी.एम.पी. महादेवन् विवेकानन्द को 'आधुनिक भारत के प्रथम राष्ट्रवादी नेताओं में प्रमुख' मानते हैं तथा उन्हें 'भारत की अपूर्व राष्ट्रवादी भावना का श्रेय' प्रदान करते हैं । वे लिखते हैं, "वह देशभक्त-संन्यासी स्वामी विवेकानन्द का वेदान्ती राष्ट्रवाद ही था, जिसने महात्मा गांधी की नीतियुक्त राजनीति को दिशा दी, जिससे भारत स्वाधीन हुआ है ।"[१५] कोलम्बिया विश्व-विद्यालय के अध्यक्ष डा० ग्रेसन कर्क कहते हैं, "वे (विवेकानन्द) ब्रिटिश शासन से मुक्ति की आवश्यकता का अनुभव करते थे, क्योंकि उसे वे दमनकारी और राष्ट्रीय चेतना की उपलब्धि में बाधक मानते थे । उनके इस राजनैतिक दृष्टिकोण और तीव्र राष्ट्रभावना के ही साथ उनका अपने देशवासियों के प्रति तिरस्कार का भी भाव था, जो अपने राजनैतिक शासकों का अन्धानुकरण करते हुए अपनी सांस्कृतिक जड़ों को खो बैठे थे ।"[१६]

१३. खण्ड ६, पृ. ५५१ ।

१४. 'बुलेटिन', जून १९६३, पृ. २५६ ।

१५. 'वेदान्त केसरी', अगस्त १९६३, पृ. १७९-८० ।

१६. वही, मई १९६४, पृ. ४२-४३ ।

विवेकानन्द यह मानते थे कि प्रत्येक राष्ट्र का एक प्राणकेन्द्र होता है और उसी के आधार पर उस राष्ट्र की संरचना और उसका पुनर्जागरण हो सकता है । भारत के लिए यह प्राणकेन्द्र उनकी दृष्टि में धर्म था और वे यह कहते नहीं थकते थे कि धर्म और अध्यात्म के स्पन्दन को बिना तीव्र बनाये भारत का पुनरुन्मेष साधित नहीं किया जा सकता । देश की गुलामी और धार्मिक अन्धविश्वासों का कारण भी वे यथार्थ धर्मभाव की शिथिलता ही मानते थे । उनके लिए वेदान्त के उदात्त और सार्वभौम सिद्धान्त ही यथार्थ धर्मभाव का आधार थे, जहाँ सबको अपनी उन्नति के लिए समान अवसर उपलब्ध था । देश के जनसाधारण की दुर्दशा उच्च वर्ग के लोगों के अत्याचार के कारण हुई, जिन्होंने उन्नति के सभी साधनों पर अपना एकाधिकार कर लिया । अतः देश को उठाने के लिए स्वामीजी सबका ध्यान इस पीडित और बेबस जनसमुदाय की ओर आकर्षित करते हैं । उनकी दृष्टि में भारतराष्ट्र इन्हीं पीड़ितों और पददलितों का एक विराट् समुदाय था । वे इसी राष्ट्रदेवता की भक्ति का आह्वान करते हुए कहते हैं, "सब मिथ्या देवी-देवताओं को भुला दो, पचास वर्ष तक कोई उनका स्मरण न करे । यह हमारी जाति ही एकमात्र ईश्वर है ।. . हमारे सर्वप्रथम आराध्य हैं हमारे देशवासी, हमारे जातीय बन्धु...।"[१७] "हे भाइयो, हम सभी लोगों को इस समय कठिन परिश्रम करना होगा । अब सोने का समय नहीं है । हमारे कार्यों पर भारत का भविष्य निर्भर है । यह देखो, भारतमाता धीरे-धीरे आँख खोल रही है । वह कुछ देर सोयी थी । उठो, उठो, उसे जगाओ और पूर्वापेक्षा महागौरव-मण्डित कर भक्तिभाव से उसे अपने चिरन्तन सिंहासन

---

१७. रोमां रोलाँ : 'दि लाइफ आफ स्वामी विवेकानन्द एण्ड दि यूनीवर्सल गॉस्पेल' (आगे 'यूनीवर्सल गॉस्पेल' नाम से अभिहित), कलकत्ता, १९६०, पृ. ११२-१३; 'विवेकानन्द साहित्य', खण्ड ५, पृ. १९३-९४ ।

पर प्रतिष्ठित करो ।"[१८] "तुम्हें किसी भी प्रकार की विदेशी सहायता पर निर्भर नहीं रहना है। व्यक्ति की भाँति राष्ट्र को भी अपनी सहायता आप ही करनी होगी । यही सच्ची देशभक्ति है।"[१९] "ऐ बच्चो, सबके लिए तुम्हारे दिल में दर्द हो—गरीब, मूर्ख, पददलित मनुष्यों के दुःख का तुम अनुभव करो, समवेदना से तुम्हारे हृदय का स्पन्दन रुक जाय, मस्तिष्क चकराने लगे, तुम्हें ऐसा प्रतीत हो कि हम पागल तो नहीं हो रहे हैं. . . ।"[२०] रोमाँ रोलाँ पूछते हैं कि क्या भारत विवेकानन्द की वाणी से विभोर होकर उस द्रष्टा की आशा के अनुसार कर्मरत हुआ ?[२१] और इस प्रश्न का स्वयं ही उत्तर देते हैं : "मिथ्या स्वप्नवादिता से ग्रस्त, पूर्वग्रह से बँधे और स्वल्प प्रयत्न में ही निस्तेज हो जानेवाले जनसमाज का संस्कार क्षण में बदल देना सम्भव नहीं है । परन्तु स्वामीजी के निर्मम कशाघात से भारत ने सोते में पहली बार करवट ली और पहली बार उसने स्वप्न में अपनी प्रगति का शंखनाद सुना । उसे अपने ब्रह्म का बोध हुआ । भारत ने यह स्वप्न कभी विस्मृत नहीं किया । उसी से तन्द्रालस विशाल भारत का जागरण आरम्भ हुआ । विवेकानन्द के निधन के तीन वर्ष पश्चात् तिलक और गाँधी के महान् आन्दोलन के श्रीगणेश के रूप में जो बंग-विद्रोह आगत पीढ़ी के सामने हुआ, और मद्रास में आज तक जो संगठित जन-आन्दोलन हुए, वे सब (स्वामीजी द्वारा दिये गये) 'मद्रास के सन्देश' में निहित 'लाजारस आगे बढ़ो' की गुरु-गम्भीर पुकार के कारण हुए, जिसने बहुतों को जगाया है। इस ओजस्वी सन्देश का दोहरा अर्थ था—एक देश के लिए और दूसरा विश्व के लिए ।"[२२]

---

१८. 'विवेकानन्द साहित्य', खण्ड ५, पृ. ५० ।
१९. वही, पृ. ३५५-५६ ।
२०. वही, खण्ड ३, पृ. ३३३ ।
२१. 'यूनीवर्सल गॉस्पेल', पृ. ११३ ।
२२. वही, पृ. ११३-१४ ।

राजनीति के क्षेत्र में देश की मुक्ति के लिए चलनेवाले आन्दोलन के प्रति स्वामीजी को पूरी सहानुभूति थी। जब उनसे किसी ने पूछा, "क्या आपने भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस आन्दोलन के प्रति कोई ध्यान दिया है?" तो उन्होंने उत्तर दिया, "मैं अधिक ध्यान देने का दावा नहीं कर सकता, क्योंकि मेरा कार्यक्षेत्र दूसरे भाग में है। पर मैं इस आन्दोलन को महत्त्वपूर्ण मानता हूँ तथा इसकी सफलता के लिए हार्दिक कामना करता हूँ। भारत की विभिन्न जातियों से एक राष्ट्र का निर्माण हो रहा है...और अन्ततोगत्वा इससे भारत की सजातीयता साधित होगी और वह प्रजातांत्रिक भावों की उपलब्धि करेगा। ...हमारे देशवासियों की असीम कार्यक्षमता का उपयोग करना होगा। भारत की सम्भावनाएँ महान् हैं और वे प्रकट होंगी।"[२३]

नेताजी सुभाषचन्द्र बोस ने लिखा, "स्वामी विवेकानन्द का धर्म राष्ट्रीयता को उत्तेजना देनेवाला धर्म था। नयी पीढ़ी के लोगों में उन्होंने भारत के प्रति भक्ति जगायी, उसके अतीत के प्रति गौरव एवं उसके भविष्य के प्रति आस्था उत्पन्न की। उनके उद्गारों से लोगों में आत्मनिर्भरता और स्वाभिमान के भाव जगे हैं। स्वामीजी ने सुस्पष्ट रूप से राजनीति का एक भी सन्देश नहीं दिया, किन्तु जो भी उनके अथवा उनकी रचनाओं के सम्पर्क में आया, उसमें देशभक्ति और राजनीतिक मानसिकता आपसे आप उत्पन्न हो गयी।"[२४] चक्रवर्ती राजगोपालाचारी ने उनके प्रति श्रद्धांजलि अर्पित करते हुए कहा था, "उन्होंने भारत की आँखें उसकी अपनी सच्ची महानता के प्रति खोल दीं। उन्होंने राजनीति का अध्यात्मीकरण कर दिया। हम अन्धे थे और उन्होंने हमें देखने की क्षमता दी। वे राजनीतिक,

२३. वही, खण्ड ४; पृ. २४० ।

२४. रामधारी सिंह 'दिनकर' : 'संस्कृति के चार अध्याय', दिल्ली, १९५६, पृ. ४९७ ।

सांस्कृतिक एवं आध्यात्मिक सभी क्षेत्रों में भारतीय स्वातंत्र्य के जनक थे।"[२५] डा० एस. राधाकृष्णन् ने अपने ऊपर पड़े स्वामीजी के प्रभाव को व्यक्त करते हुए कहा था, "इस शताब्दी के प्रारम्भ में जब मैं हाई स्कूल और कालेज का छात्र था, हम लोग स्वामी विवेकानन्द के भाषण और पत्र-संग्रह पढ़ा करते, जो हाथ से नकल उतारे हुए होते और एक के पास से दूसरे के पास जाते। वे हमें प्रबल रूप से मथ देते और अपनी प्राचीन संस्कृति के प्रति हमें गर्व का अनुभव कराते। हिन्दू धर्म के महान् आदर्शों के पक्षधर होकर, मात्र जिनके द्वारा ही मानवता की रक्षा हो सकती है, स्वामीजी ने मानवता को एक श्रेष्ठ और उदात्त पथ की ओर ले जाने का प्रयास किया। आपके सामाजिक कार्यक्रम चाहे जो हों, आर्थिक और राजनीतिक जगत् में आप चाहे जितनी क्रान्तियाँ ले आएँ, पर जब तक आपको धर्म की गतिशील प्रेरणा प्राप्त नहीं है, आप अपनी योजना में कभी सफल न होंगे।... यदि आप सचमुच मनुष्य की दिव्यता में विश्वास करते हैं, तो एक क्षण के लिए भी हमारे पास आयी उस महान् परम्परा को स्वीकार करने में आप न हिचकें, जिसके स्वामी विवेकानन्द महानतम व्याख्याता थे।"[२६]

और क्या केवल इस देश के लोगों ने ही विवेकानन्द से प्रेरणा ली? वे भारत के होकर भी सब देशों के थे, भारतीय होकर भी सार्वभौम थे। इंडोनेशिया के प्रेसीडेंट डा० अहमद सुकर्णो के जीवन में उनका प्रबल प्रभाव पड़ा था। जब वे कैद में थे, तो विवेकानन्द के पत्र पढ़ा करते और इस प्रकार अपनी देशभक्ति की अग्नि को प्रदीप्त करते। रात्रि में सोने से पूर्व विवेकानन्द के वचनों का एक अंश पढ़ने का उन्होंने नियम बना लिया था। इंडोनेशिया की भाषा में प्रकाशित

२५. 'बुलेटिन', मई १९६३, पृ. १४९।
२६. 'प्रबुद्ध भारत', मई १९६३, पृ. १८३।

'सुआरा विवेकानन्द' नामक ग्रन्थ में भूमिका लिखते हुए वे व्यक्त करते हैं, "स्वामी विवेकानन्द ! क्या ही नाम ! वे उनमें से थे, जिन्होंने मुझे बहुत ही प्रेरणा दी, शक्तिशाली बनने के लिए प्रेरणा दी, ईश्वर का सेवक होने की प्रेरणा दी, अपने देश का सेवक होने की प्रेरणा दी, दरिद्र का सेवक होने की प्रेरणा दी, मानवजाति का सेवक होने की प्रेरणा दी। ...यह उन्हीं के शब्द थे, 'हम बहुत रो चुके, अब और रोना नहीं है, बल्कि अपने पैरों पर खड़े हो जाओ और मनुष्य बनो'।"[२७]

ये सारे उद्धरण यही प्रदर्शित करते हैं कि स्वामीजी के उपदेश काल-बाह्य न हो आज भी उतने ही प्रासंगिक हैं, जितना उनके अपने युग में थे। फलत: उन्होंने हमारे देश को उठाने के लिए तब जो कार्ययोजना बनायी थी, वह आज भी हमारे लिए उतनी ही व्यावहारिक है।

'विवेक-ज्योति' के इस विशेषांक में, जो स्वामीजी की १२५वीं जयन्ती के निमित्त समर्पित है, हमने सुप्रसिद्ध मनीषियों के विचारों को प्रकाशित करने की चेष्टा की है, जिनसे स्वामीजी के बहुमुखी व्यक्तित्व की एक झलक पाठकों को मिल सके और वे समझ सकें कि स्वामीजी ने कितनी गहराई तक विश्ववासियों को सामान्य तौर पर और भारवासियों को विशेष तौर पर प्रभावित किया था।

इस प्रकार के लेखों के संकलन में पुनरुक्ति का दोष अनिवार्य रूप से आ जाता है। सम्भव है दो लेखक अपने-अपने लेख में स्वामीजी का वही एक उद्धरण दें अथवा उसी एक बिन्दु पर चर्चा करें, या फिर वही एक घटना दुबारा आ जाय। तथापि हमारा विश्वास है कि सुधी पाठक ऐसे अंशों का भी, विशिष्ट सन्दर्भों के कारण, रस ले सकेंगे।

इस विशेषांक को तैयार करने में हमें रामकृष्ण मठ, नागपुर के स्वामी विवेहात्मानन्द का बहुमूल्य सहयोग मिला है। इसके लिए हम उनके प्रति हार्दिक आभार प्रकट करते हैं।

हमें विश्वास है कि यह विशेषांक आपको विशेष रूप से पसन्द आएगा। ○

---

२७. स्वामी रंगनाथानन्द : 'ए पिलग्रिम लूक्स एट दि वर्ल्ड', बम्बई, १९७४, खण्ड १, पृ. ५०८।

स्वामी विवेकानन्द का एक अप्रकाशित पत्र

(यह पत्र मूल बँगला में श्री मन्मथ नाथ भट्टाचार्य को लिखा गया था, जो उस समय मद्रास में डिप्टी अकाउन्टेंट जनरल थे। वे स्वामीजी के विद्यालय में ही पढते थे और दोनों अच्छे मित्र थे। अपने भारत-भ्रमणकाल में स्वामीजी उनके यहाँ कभी-कभी ठहरे भी थे। इसीलिए इस पत्र में हम इतना व्यक्तिगत पुट पाते हैं। हिन्दी में यह पत्र सम्भवतः पहली ही बार प्रकाशित हो रहा है।—स०)

५ सितम्बर १८९४
अमेरिका

प्रिय भट्टाचार्य,

तुम्हारा स्नेहभरा पत्र पढ़कर मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई। मैं बुनने की मशीन के बारे में यथाशीघ्र पूछताछ करके तुम्हें सूचित करूँगा। अभी मैं अनिसक्वाम में विश्राम कर रहा हूँ। यह समुद्र के तट पर एक गाँव है। शीघ्र मैं शहर जाऊंगा और मशीन की खोज करूंगा। गर्मी में ये समुद्रतट के स्थान लोगों से भरे रहते हैं; कुछ समुद्र-स्नान करने आते हैं, कुछ विश्राम लेने तो कुछ पति पकड़ने।

इस देश में शिष्टाचार की भावना बड़ी तीव्र है। स्त्रियों के सामने आपको गले से पैर तक पूरी तरह अपने को ढांककर रखना होगा। यहा तक कि रोजमर्रे की जो सहज शारीरिक क्रियाएँ हैं, उनका भी उल्लेख आप नहीं कर सकते—पता नहीं चलता कि व्यक्ति कब शौच को जाता है, यहाँ इतना सावधान रहना पड़ता है! इस देश में तुम अपने रूमाल में हजार बार नाक छिड़क सकते हो—उसमें कोई हानि नहीं; पर डकारना एकदम असभ्यता का लक्षण है। नारियाँ कभी-कभी कमर के ऊपरी भाग को प्रदर्शित करने में

संकोच का अनुभव नहीं करतीं—तुमने उनके लो-कट गाउन को अवश्य ही देखा होगा—पर उनका कहना है कि नंगे पाँव चलना मानो नंगा चलने के ही समान खराब है। जैसे हम हरदम आत्मा की बात सोचते हैं, वे उसी तरह देह की देखभाल करते हैं, और उसकी सफाई और उसे सजाने-संवारने का कोई अन्त नहीं। जो ऐसा नहीं करता, उसे समाज में कोई स्थान नहीं है।

हम जो कण्डे से रसोई पकाते हैं और जमीन में नीचे बैठकर खाते हैं, उसे वे लोग सूअर के समान खाना कहते हैं। उनका कहना है कि हिन्दुओं में घृणा नाम की कोई चीज नहीं और शूकर के समान वे गोबर खाते हैं। अंगरेजी में 'गोबर' शब्द वर्जन का पर्याय है। दूसरी ओर, एक ही गिलास से बहुत से लोग, उसे बिना धोये ही, पानी पी लेंगे, और कदाचित् ही कभी वे इस नियम का पालन करते हों कि वस्तुओं को पकाने से पूर्व धो लेना चाहिए। पर यदि रसोई बनानेवाली के कपड़े में तनिक भी गन्दगी दिखी तो उसे उसी क्षण विदा कर देते हैं। मेज के साज-सामान साफ और चकाचक होते हैं। वे लोग दुनिया के सबसे धनाढ्य लोग हैं, उनके ऐश-आराम और शान-शौकत का वर्णन नहीं किया जा सकता।

राजपूताना में लोग भोजन के तौर-तरीके में मुसलमानों की नकल करते हैं, जो एक प्रकार से ठीक ही है। वे पीढ़े पर बैठते हैं और सामने एक चौकी होती है, जिस पर थाली रखी जाती है। जमीन को गोबर और मिट्टी से लीपकर, उस पर केले का पत्ता बिछाकर भोजन करने की अपेक्षा यह बेहतर है। यदि पत्ता फट

जाय तो कैसी मुसीबत खड़ी हो जाय ! हिन्दुओं को कपड़े या भोजन के सम्बन्ध में विशेष ज्ञान नहीं था। फिर जो भी हिन्दू सभ्यता रही, वह पंजाब और पश्चिमोत्तर प्रान्तों में रही। . . .

हमारी औरतें यदि जूता पहन लें तो जात चली जाय, पर राजपूत औरतें यदि जूता न पहनें तो जात खो बैठेंगी ! मनु कहते हैं—'व्यक्ति को हरदम जूता पहनना चाहिए'। इससे इनकार नहीं किया जा सकता कि लोगों के रहने का स्तर अच्छा होना चाहिए। मैं कहता हूँ कि शान-शौकत को छोड़कर भी साफ-सफाई से रहा जा सकता है . . .। मैं पूछता हूँ, हमें अँगरेज क्यों बनना है ? यदि हम अपने पश्चिमी प्रान्तों के भाइयों का अनुकरण करें तो वही फिलहाल हमारे लिए यथेष्ट है। यदि भारत से लोगों की टोलियाँ निकलकर विश्व-भ्रमण करें और कुछ वर्षों तक इस प्रकार आना-जाना चलता रहे तो मात्र उसी से बीस वर्ष में ही भारत का चेहरा बदल जाएगा; और कुछ करने की आवश्यकता नहीं। पर जब एक गाँव के लोग दूसरे गाँव में ही नहीं जाते, तो कुछ होगा कैसे ? जो हो, हर चीज धीरे-धीरे ही होगी। कालान्तर में ढीठ बंगाली लड़के ही देश को जगाएंगे। पर, मन्मथ बाबू, तुमको नौ साल की लड़की को शादी में देने का शर्मनाक व्यापार रोकना होगा। वही सब बुराइयों की जड़ में है। मेरे भाई, यह बहुत बड़ा पाप है। फिर जरा सोचो, यह कैसी भयावह बात है कि जब सरकार ने बाल-विवाह को रोकने के लिए कानून पास करना चाहा, तो हमारे निकम्मे लोगों ने चीखना-चिल्लाना शुरू कर दिया ! यदि हम स्वयं उसे न रोकें

तब तो सरकार स्वाभाविक ही उसमें बाधा देगी, और वह यही तो करना चाहती है। सारी दुनिया हमें धिक्कार रही है। तुम तो अपने घर में दरवाजों को वन्द करके पड़े हुए हो, पर बाहर के लोग तो तुम पर थूक रहे हैं। मैं कहाँ तक उनसे लड़ सकता हूँ ? यह कैसी भयंकर बात है !—यहाँ तक कि माता-पिता भी अपनी दस साल की लड़की को एक सण्ड-मुसण्ड ज्यादा उम्रवाले तोंदू पति को शादी में देने में नहीं हिचकते ! हे भगवान्, क्या पाप के बिना कोई दण्ड नहीं है ? यह सब कर्म का फल है। अगर हमारा देश भयंकर रूप से पापी न होता, तो क्यों सात सौ साल तक लूटा और पीटा जाता ?

अब, जैसे हमारे देश में अपनी कन्या को विवाह में देने में माता-पिता को बहुत कष्ट उठाना पड़ता है, यहाँ इसी प्रकार लड़कियों को भुगतना पड़ता है—माता-पिता को उतना कष्ट नहीं सहना पड़ता, क्योंकि पति पकड़ना यहाँ लड़कियों का काम है। अब मैं उनके सभी व्यापारों में उनके साथ घनिष्ठ रूप से सम्बद्ध हूँ; मैं अब मानो औरतों के बीच एक औरत हूँ। इसलिए मैंने उनके सभी खेलों को देखा है और देख रहा हूं। भोज देना, नाचना, संगीत की महफिलों में जाना—यह सब तो ठीक है। पर सब समय जवान औरतें अपने मन में योजना बनाती रहती हैं कि पति कैसे फँसाया जाय। वे लड़कों के इर्द-गिर्द चक्कर काटती रहती हैं। दूसरी ओर लडके लड़कियों के साथ सब समय घुलते-मिलते और हाव-भाव दिखाते तो रहते हैं, पर बड़े चौकस रहते हैं और जब मात खाने की बाजी आती है तो कन्नी काट जाते हैं। लड़के लड़कियों को अपने ऊपर तरजीह देते

हैं, उनके प्रति आदर व्यक्त करते हैं और गुलामी भी अदा करते हैं; परन्तु लड़कियाँ ज्योंही उन्हें पकड़ने के लिए अपना हाथ बढ़ाती हैं कि वे रफूचक्कर होकर उनकी पहुँच से बाहर हो जाते हैं। इस प्रकार के कई प्रयत्नों के बाद तब कहीं कोई लड़की किसी लड़के को पकड़ने में सफल हो पाती है। यदि लड़की धनवान् है, तो कई लड़के उसके ताल पर नाचा करते हैं, किन्तु गरीब लड़कों को बहुत कठिनाई होती है। यदि कोई निर्धन लड़की बहुत खूबसूरत है, तो उसकी शादी जल्दी जम सकती है; अन्यथा उसे जीवन भर रास्ता देखना पड़ता है। जैसे हमारे देश में, वैसे ही यहाँ भी हजार में कहीं एक शादी प्यार और प्रणय-प्रार्थना के माध्यम से होती है, शेष तो पैसे पर आधारित होती हैं। उसके बाद झगड़ा और फिर 'निकल जाओ!'—तलाक। हमारे यहाँ यह नहीं है; बचाव का एकमात्र रास्ता फाँसी लगा लेना है। सब देशों में यह बात समान है। अन्तर इतना है कि यहाँ लड़कियाँ सारे सूत्र अपने हाथ में रखती हैं; और हमारे देश में वैवाहिक जीवन को एक सुन्दर चेहरा देने के लिए माता-पिता की सहायता मिल जाती है। दोनों ही दशाओं में परिणाम समान ही है।

किन्तु आजकल अमेरिकन लड़कियाँ विवाह नहीं करना चाहतीं। गृहयुद्ध के समय बहुत से पुरुष मारे गये और नारियों ने सब प्रकार का काम करना शुरू किया। तब से वे उन अधिकारों को नहीं छोड़ना चाहतीं, जो उन्हें मिले हैं। वे अपनी आजीविका स्वयं कमाती हैं, इसलिए कहती हैं, "विवाह करके कोई लाभ नहीं। यदि सच्चा प्यार कहीं हुआ तभी शादी करेंगे, अन्यथा पैसा

कमाएंगे और अपना खर्च चलाएंगे।" भले ही पिता लखपति हो, पर लड़के को विवाह से पहले पर्याप्त कमाना पड़ता है। पिता से मिलनेवाली आर्थिक सहायता को देखते हुए वह विवाह नहीं भी करता। अब लड़कियाँ भी यही चाहती हैं। जब लड़का विवाह करता है, तो स्वयं अपने परिवार के लिए अजनबी-सा बन जाता है, लेकिन जब लड़की विवाह करती है, तब अपने पति को अपने माता-पिता के घर मानो ले आती है। पुरुष अपनी पत्नी के माँ-बाप के यहाँ दस बार जाएगा, पर स्वयं अपने माता-पिता के यहाँ कदाचित् ही। फिर भी अपनी सास के डर से वे आतंकित रहते हैं।

इस देश में सर्वत्र धन की नदी बह रही है, सौन्दर्य की तरंगें लहरें मार रही हैं और विद्या का प्राचुर्य है। यह देश बड़ा ही स्वस्थ है; ये लोग जानते हैं कि पृथ्वी का भोग कैसे किया जाय। . . . जब यूरोप के राजकुमार निर्धन हो जाते हैं, तब यहाँ शादी करने आते हैं। औसत अमेरिकन इसे पसन्द नहीं करता; किन्तु कुछ धनी, सुन्दर स्त्रियाँ खिताबों के पीछे भागती हैं। लेकिन अमेरिकन स्त्रियों के लिए यूरोप में रहना अत्यन्त कठिन है। इस देश के पति अपनी पत्नी के गुलाम होते हैं, लेकिन यूरोप की पत्नियाँ अपने पतियों की गुलाम होती हैं—यह अमेरिकन स्त्रियाँ पसन्द नहीं करतीं। यहाँ हर चीज में पत्नी से कहना पड़ता है—"हाँ, प्रिये"; अन्यथा लोगों के सामने पत्नी का सिर नीचा हो जाएगा।

अमेरिका की स्त्रियाँ बड़ी भावुक होती हैं और उनमें रोमांस के लिए पागलपन होता है। लेकिन मैं एक अजूबा प्राणी हूँ, जिसमें किसी प्रकार का रोमांटिक भाव नहीं;

इसलिए वे मेरे प्रति ऐसा कोई भाव नहीं रख सकीं तथा मुझे बड़ा आदर देती हैं। मैं उन सबको मुझे 'पिता' या 'भाई' कहने लगाता हूँ। मैं उन्हें अन्य किसी भाव से अपने पास फटकने नहीं देता, और धीरे-धीरे वे सब ठीक हो गयी हैं।...

इस देश के पादरी...पापियों को नरक में फेंकने के लिए आतुर हैं। पर उनमें कुछ बड़े अच्छे हैं।... स्त्रियों के बीच इस देश में मेरा बहुत नाम है। मैंने अभी तक अविवाहित लड़कियों में एक भी ऐसी नहीं देखी जो लम्पट हो। लम्पट होनेवाली या तो विधवा होती है या विवाहिता। अविवाहित लड़कियाँ अत्यधिक भली होती हैं, क्योंकि उनका भविष्य उज्ज्वल है...।

तुम भारत में पुराने सूखे फल के समान दिखने-वाली जिन दुबली-पतली पश्चिमी स्त्रियों को देखते हो, वे अँगरेज हैं, और यूरोपियनों में अँगरेज एक कुरूप जाति है। अमेरिका में यूरोप के श्रेष्ठ रक्तों का सम्मिश्रण हुआ है, इसलिए अमेरिकन स्त्रियाँ बड़ी सुन्दर होती हैं। और वे अपने सौन्दर्य की कैसी रक्षा करती हैं! अपने दसवें साल से हर साल बच्चे को जन्म देकर क्या स्त्री अपनी सुन्दरता कायम रख सकती है? कैसी मूर्खता है! कैसा भयंकर पाप है! हमारे देश की सर्वश्रेष्ठ सुन्दरी भी इनके सामने काला धूक दिखेगी। लेकिन यह अवश्यमेव स्वीकार्य है कि पंजाब की स्त्रियों के नाक-नक्श बड़े सुन्दर होते हैं। बहुत सी अमेरिकन स्त्रियाँ बड़ी सुशिक्षित हैं; वे अच्छे-अच्छे विद्वान् प्रोफेसर को भी बगलें झंका देंगी। वे किसी के मतामत की परवाह भी नहीं करतीं। और उनके गुणों का क्या कहूँ—कैसी सदयता, कैसे उदात्त

विचार और कर्म ! जरा सोचो तो, अगर इस देश का कोई आदमी भारत जाय, तो कोई उसे छुएगा तक नहीं; फिर भी यहाँ श्रेष्ठ से श्रेष्ठ परिवार में मैं मनमर्जी कर सकता हूँ—मानो उनका अपना लड़का होऊँ ! मैं शिशु के समान हूँ; उनकी स्त्रियाँ मेरे लिए खरीद-फरोख्त करती हैं, मेरा सन्देशा इधर-उधर ले जाती हैं। उदाहरणार्थ, मैंने अभी ही एक लड़की को मशीन की जानकारी के लिए लिखा है। वह बड़ी तत्परता के साथ जानकारी इकट्ठा कर मुझे भेजेगी। फिर, खेतड़ी के महाराजा को एक फोनोग्राफ भेजा गया—लड़कियों ने बड़ी कुशलता से सारा काम सम्पादित किया। हरि ! हरि ! यह तो स्वर्ग और नरक का अन्तर है ! 'वे सौन्दर्य में लक्ष्मी हैं और प्रतिभा तथा उपलब्धियों में साक्षात् सरस्वती।' किताबें पढ़कर यह सब नहीं पाया जा सकता। मैं कहता हूँ, क्या तुम कुछ पुरुष और स्त्रियों को दुनिया देखने के लिए बाहर भेज सकते हो ? केवल तभी देश जागेगा—किताबें पढ़कर नहीं। यहाँ के पुरुष पैसा कमाने में बड़े चतुर हैं। जहाँ दूसरों को धूल तक नहीं दिखती, वहाँ वे सोना देख लेते हैं।

जो भी भारत से बाहर आकर दूसरे किसी देश को देखेगा, वह महान् पुण्य का अधिकारी होगा। दूसरे देशों से सम्बन्ध काट लेना भारत के पतन का एकमात्र कारण रहा। जब से अँगरेज आये हैं, वे तुम्हें बलपूर्वक फिर से दूसरे देशों के साथ जोड़ दे रहे हैं। फलस्वरूप तुम पुनः उठते दिखाई दे रहे हो। जो भी देश से बाहर आता है, वह मानो समूचे राष्ट्र को एक लाभ प्रदान करता है; क्योंकि केवल ऐसा करने से ही तुम्हारे क्षितिज का विस्तार

होगा। और चूंकि नारियाँ स्वयं होकर इसका लाभ नहीं ले पातीं, भारत में उनकी प्रगति नहीं के बराबर हुई है। गतिशून्यता की कोई अवस्था नहीं है; या तो तुम ऊपर उठकर आगे बढ़ते हो या फिर पीछे जाकर मृत हो जाते हो। जीवन का एकमात्र चिह्न है बाहर की ओर सामने जाना और फैलना। सिकुड़ना मृत्यु है। तुम दूसरों का भला क्यों करोगे? इसलिए कि वही जीवन का लक्षण है—उससे तुम अपनी क्षुद्र सीमा से बाहर निकलकर फैलते हो; तुम जीते हो और बढ़ते हो। सारी संकीर्णता, सारा विरोध, सारी स्वार्थपरता केवल धीमी आत्महत्या ही तो है। और जब कोई राष्ट्र अपने को सिकोड़ने की तथा इस प्रकार सारे विकास और जीवन पर जड़ से प्रहार करने की मर्मान्तिक भूल कर बैठता है, तो उसकी मृत्यु अवश्यम्भावी है। इसी प्रकार स्त्रियों को भी आगे बढ़ना चाहिए, अन्यथा वे मूढ़ बन जाएंगी और अपने अत्याचारी स्वामियों के हाथों प्राणहीन औजार बनकर रह जाएँगी। अत्याचारी और मूढ़ इन दोनों के मेल के परिणामस्वरूप बच्चों का जन्म होता है, और वे गुलाम ही पैदा होते हैं। वर्तमान भारत का यही समूचा इतिहास है। अहो! कौन मृत्यु के इस भयंकर घनीभूत रूप को तोड़ेगा? ईश्वर हमारी सहायता करे! क्रमशः यह सब होगा। 'सड़क को धीरे-धीरे और सावधानीपूर्वक पार करना चाहिए; गुदड़ी को मन लगाकर और सावधानी के साथ सीना चाहिए, इसी प्रकार पहाड़ को लाँघते समय भी व्यक्ति को धीरे-धीरे और सावधानीपूर्वक करना चाहिए।'

कागजात यहाँ समय पर और ठीक ढंग से आ गये। उसके बारे में कोई कठिनाई नहीं हुई। शत्रु को शान्त कर

दिया गया है। इस पर जरा विचार करना—मैं एक अपरिचित तरुण हूँ, फिर भी इन लोगों ने अपनी बड़ी हो गयी जवान लड़कियों के बीच मुझे रखा है, और जब मेरा अपना देशवासी, मजुमदार, कहता है कि मैं लफंगा हूँ, तो वे ध्यान ही नहीं देते ! समझ लो, ये कितने सदाशय हैं और कितने सदय ! मैं सौ जीवनों में भी इनके ऋण से उऋण नहीं हो सकता। मैं अमेरिकन महिलाओं के लिए पोष्य पुत्र के समान हूँ; वे सचमुच मेरी माँ हैं। वे यदि सब प्रकार से उन्नति नहीं करेंगी तो और कौन करेगा ?

कुछ समय पहले ग्रीनएकर नामक स्थान में कई सौ बौद्धिक पुरुष तथा महिलाएँ एकत्र हुए थे और मैं वहाँ दो महीने रहा। प्रतिदिन मैं हिन्दू पद्धति में एक वृक्ष के नीचे बैठता और मेरे अनुयायी एवं शिष्य भी मेरे चारों ओर घास पर बैठते। हर सुबह मैं उन्हें उपदेश देता। वे कितने तत्पर थे !

अब यह सारा देश मुझे जानने लगा है। पादरी बहुत क्रोधित हैं, पर स्वाभाविक ही उनमें सभी नहीं। इस देश के विद्वान् पादरियों में मेरे अनेक अनुयायी हैं। उनमें अज्ञ और ढीठ लोगों में कोई समझ नहीं है, वे केवल परेशानी ही पैदा करते हैं और उसमे स्वयं अपने को चोट पहुँचाते हैं। मजुमदार ने इस देश में जो थोड़ी बहुत लोकप्रियता अर्जित की थी, मेरी निन्दा करके उसका तीन-चौथाई उसने गँवा दिया। इन लोगों ने मुझे गोद ले लिया है। जब भी कोई मेरी निन्दा करता है तो यहाँ की महिलाएँ सब जगह उसे लांछित करती हैं।

कह नहीं सकता कि कब भारत लौटूँगा, शायद अगले जाड़े में। वहाँ मुझे इधर-उधर घूमना पड़ेगा और यहाँ

भी मैं वही कर रहा हूँ।

और कुछ लिखने का नहीं रहा। कृपया इस पत्र को सार्वजनिक न बनाना। तुम समझ सकते हो, मुझे अपने द्वारा कहे जानेवाले हर शब्द के प्रति सावधान रहना पड़ता है—अब मैं सार्वजनिक जो हो गया हूँ! सभी मेरी ओर ताक लगाये बैठे हैं, विशेषकर पादरी!

तुम्हारा विश्वासपात्र,
विवेकानन्द

○

"स्वामीजी के माध्यम से विश्व को श्रीरामकृष्ण का पता चला है। यदि वे न होते तो बहुत ही थोड़े लोग श्रीरामकृष्ण की विलक्षण प्रतिभा को समझ पाते।... हम लोगों को स्वामीजी के शब्दों में अगाध विश्वास था। मैं कहता हूँ, तुम्हें श्रीरामकृष्ण और स्वामी विवेकानन्द इन दोनों महापुरुषों में असीम विश्वास होना चाहिए तथा उनके (आदर्शों के) लिए तुम्हें काम करना चाहिए!... तुम्हें नरेन के समान पवित्र आत्मा और कहाँ मिलेगा?" —स्वामी ब्रह्मानन्द

स्वामी विवेकानन्द और समाजवाद

स्वामी गम्भीरानन्द

(लेखक वर्तमान में रामकृष्ण मठ-मिशन, बेलुड़ मठ के महाध्यक्ष हैं। मूल अँगरेजी में उनका यह लेख अँगरेजी मासिक 'प्रबुद्ध भारत' के जुलाई, १९७० अंक में छपा था, जहाँ से वह साभार गृहीत और अनुवादित हुआ है। तब लेखक रामकृष्ण संघ के महासचिव थे। प्रस्तुत लेख में उन्होंने स्वामी विवेकानन्द के 'मैं समाजवादी हूँ' इस कथन का विचारपूर्ण विश्लेषण किया है। —स०)

आज सर्वत्र समाजवाद की चर्चा है। उसने लोगों का ध्यान अपनी ओर आकर्षित किया है और पुराने युग के अधिकाधिक बड़े बड़े लोगों को उसकी ओर खींचने के प्रयत्न चले हुए हैं। सदाशयी व्याख्याकार महात्मा गाँधी में एक समाजवादी को खोज निकालते हैं। और विडम्बना यह है कि स्वामीजी के कुछ धार्मिक अनुयायी जब यह सुनते हैं कि स्वामीजी को भारत में समाजवाद का अग्रदूत कहकर उनकी महिमा के गीत गाये जा रहे हैं तो वे एक उल्लास का अनुभव करते हैं। स्वामीजी की समाजवाद के प्रति पक्षधरता का सर्वप्रथम उल्लेख उन्हीं के अपने अनुज डा० भूपेन्द्रनाथ दत्त ने किया था, जिनके विश्वास का मूलाधार स्वामीजी का यह कथन था कि 'मैं समाजवादी हूँ'। डा० दत्त के अनुसार, स्वामीजी ने धर्म या अध्यात्म की जो बातें कीं, वे केवल छद्म थीं; वे तो वास्तव में मध्ययुगीन धार्मिक विचारधाराओं में डूबे लोगों के बीच उन बातों के बहाने अपने समाजवादी विचारों को लोकप्रिय बनाना चाहते थे। एक समाजवादी या तो अपनी निष्ठा के कारण ऐसा कह सकता है या फिर भोले-भाले लोगों को अपनी ओर मिलाने के लिए एक रणनीति के रूप में इसका प्रयोग कर सकता है। किन्तु जब स्वामीजी के

धार्मिक अनुयायी इनके फन्दे में पड़ जाते हैं या आत्म-सन्तुष्टि का अनुभव करते हैं, तब तो रुककर सोचना पड़ता है। यह एक अत्यन्त बुद्धिभ्रम की अवस्था है और इस प्रक्रिया में हो सकता है कि व्यक्ति उन यथार्थ मूल्यों को ही अनदेखा कर दे, जिनके लिए स्वामीजी का जीवन समर्पित हुआ था। उन्होंने धर्म और समाजवाद दोनों की ही बातें कीं, पर उनके सन्देश का भीतरी मर्म क्या था? मानवता के सार के रूप में क्या उन्होंने अध्यात्म को पाया था, अथवा वह कोई दूसरी वस्तु थी? यह प्रश्न है।

इस सन्दर्भ में हमें एक घटना का स्मरण हो आता है, जो महापुरुष स्वामी शिवानन्दजी के संस्मरणों में लिपिबद्ध है। एक वृद्धा ने उनसे मंत्रदीक्षा ली। वृद्धा के भाई भी अपनी जगह एक गुरु थे और बहुतों को पारम्परिक देवी-देवताओं के नाम का मंत्र दिया करते थे। उनके ये भाई बहुधा उन पर ताने कसते और कहते, "तुमको बहका दिया गया है, तुम्हारे उस नकली मंत्र का कोई महत्त्व नहीं है। अच्छा हो तुम वह मंत्र त्याग दो और मुझसे मंत्र लो; तभी तुम्हारी रक्षा हो सकती है।" यह क्रम बारम्बार चलता रहा। इससे वृद्धा का विश्वास डिगने लगा। जब एक दिन उनकी भाभी ने उनसे पूछा कि तुम्हारे गुरु ने कौनसा मंत्र दिया है, तो वृद्धा ने मतिभ्रम में पड़कर उसे एक कागज के टुकड़े पर मंत्र लिखकर दे दिया, भले ही हिन्दू परम्परा में किसी दूसरे को अपना मंत्र बताना वर्जित है। सम्भवतः भाई अपने उपयोग के लिए अपनी बहिन का गुप्त मंत्र जानना चाहता था और इसके लिए उसने अपनी पत्नी का सहारा लिया। चूँकि बारम्बार ताने सुनने के कारण वृद्धा आत्मनियंत्रण खो

बैठी थीं, इसलिए वे अपने भाई के चक्कर में आ गयीं। यह घटना हमें एक सबक सिखाती है। जब समाजवादी अपने ढंग से स्वामीजी की व्याख्या करते हैं और जोर देकर घोषणा करते हैं कि स्वामीजी के समूचे दर्शन की कुंजी केवल उनके पास है, हमारे पास नहीं, तो हो सकता है कि हम आत्म-विश्वास खो बैठें और अपने मनोवाछित मंत्र को छोड़कर अनजान में उनके खेमे में चले जायँ और इस प्रकार प्रभावी आन्दोलन के पिछलग्गू बनकर दूसरों के कृपाभाजन होने की चेष्टा करें। अतएव यह उचित है कि हम शान्तिपूर्वक और बारीकी के साथ इस पर विचार करें कि स्वामीजी ने किस अर्थ में 'मैं समाजवादी हूँ' यह कहा था, उन्होंने किस प्रकार के समाजवाद की बात कही थी तथा वे किस प्रकार अपने समाजवादी समाज को अस्तित्व में लाना चाहते थे।

यह एक सामान्य सोच की बात है कि किसी दृष्टिकोण के प्रति मात्र कोई कथन या उसकी प्रशंसा अथवा उसके प्रति बौद्धिक सम्मान यह सिद्ध नहीं करता कि व्यक्ति उस दृष्टिकोण से एकरूप है या कि उसका पक्षधर है। यह सम्भव है कि व्यक्ति का वह क्षणिक उच्छ्वास हो और यथार्थ में उस विशिष्ट दृष्टिकोण के प्रति सहानुभूति प्रकट करने के बदले वह किसी दूसरी विचारधारा या अवस्था के प्रति आक्रोश व्यक्त कर रहा हो, जो उसे पीड़ित करती हो। यह अच्छी तरह से जाना हुआ तथ्य है कि स्वामीजी उस समय की सामाजिक व्यवस्था से सन्तुष्ट नहीं थे और यह बहुत सम्भव है कि उस असह्य दशा की ओर, जिसका तुरन्त निराकरण आवश्यक था, अपने देशवासियों का ध्यान आकर्षित करने के लिए वे निराशा का अनुभव करते

हुए चिल्ला उठे हों, 'मैं समाजवादी हूँ'। उनके कथन का मर्म यह नहीं रहा होगा कि वे समाजवादी ही हैं। उनके ऐसे किसी छिटपुट वाक्य को यदि जीवन और समाज के प्रति उनके दर्शन की पृष्ठभूमि में न पढ़ा जाय तथा सन्दर्भ से काटकर उसका शब्दशः अर्थ किया जाय, तो इससे अर्थ का अनर्थ हो सकता है। उन्होंने ऐसे भी तो कई वाक्य कहे हैं—'मैं कोई सन्त नहीं हूँ', 'मुझसे जितना सम्भव था तुम्हारी सहायता की, अब तुम अपनी मदद करो', पर हम उनके ऐसे वाक्यों का अर्थ शब्दशः नहीं लेते।

फिर, एक धार्मिक नेता को भी केवल जनता की भाषा में ही नहीं बोलना पड़ता, अपितु उसे उनकी प्रवृत्तियों, आकांक्षाओं तथा उनके चतुर्दिक् मँडरानेवाले सामाजिक तनावों का भी ध्यान रखना पड़ता है। प्रचलित परिस्थितियों में प्रभावी होने तथा अपने सन्देश को स्थायित्व एवं सर्व-जनीन रूप देने के लिए कभी-कभी उसके वचनों को आदेशात्मक होना होता है, जिससे कि जटिल अवस्थाविशेष के परिणामों की ओर लोगों का ध्यान आकर्षित हो और फलस्वरूप, परोक्ष रूप से ही सही, बिना विशेष बाधा-विघ्न के समाज-यंत्र के चलने का रास्ता खुल जाय तथा उनमें एक बेहतर सामाजिक व्यवस्था के प्रति गत्यात्मक प्रगतिशील एवं उदार दृष्टिकोण लाया जा सके। ये धार्मिक नेता केवल धर्म की ही बात कहते हैं, पर ऐसे सामाजिक वातावरण में बात के कहे जाने से वह सामाजिक आन्दोलनों के साथ कुछ अंशों में मिल-सी जाती है। फिर भी कोई भी ईमानदार विचारक उनके कथन के सही अर्थ या सन्देश के भीतरी मर्म को समझने में गल्ती नहीं कर सकता। उदाहरणार्थ, भक्तों के साथ वार्तालाप के प्रसंग

में श्रीरामकृष्ण बहुधा सामाजिक समस्याओं को भी छुआ करते थे। 'श्रीरामकृष्णवचनामृत' में हमें उनके ऐसे कथन पढ़ने को मिलते हैं--'खाली पेट में धर्म नहीं रहता', 'भक्तों की कोई जात नहीं', 'शूकर-मांस खाकर भी यदि किसी का मन भगवान् में है तो वह धन्य है; जबकि घास-पाती खाकर भी जिसका मन कामिनी-कांचन में पड़ा है, उसे धिक्कार है', 'यदि अछूत भगवान् का भक्त है तो उसके हाथ का भी खाया जा सकता है'। तथापि इन उक्तियों के बावजूद उनका प्रखर आलोचक भी यह नहीं कहेगा कि श्रीरामकृष्ण एक समाज-सुधारक थे। इसी प्रकार यदि हम स्वामीजी का सही सही अध्ययन करें तो हम साधारण अर्थों में उन्हें समाजवादी समझना बन्द कर देंगे।

उदाहरण के लिए हम वह सन्दर्भ लें, जिसमें स्वामीजी ने कहा कि 'मैं समाजवादी हूँ', जिसका डा० भूपेन्द्र दत्त ने बड़े विश्वास के साथ उल्लेख किया है। वह उद्धरण यों है--

"मैं समाजवादी हूँ, इसलिए नहीं कि मैं इसे पूर्ण रूप से निर्दोष व्यवस्था समझता हूँ, परन्तु इसलिए कि रोटी न मिलने से आधी रोटी ही अच्छी है। और सब मतवाद काम में लाये जा चुके हैं और दोषयुक्त सिद्ध हुए हैं। इसकी भी अब परीक्षा होने दो--यदि और किसी कारण से नहीं तो उसकी नवीनता के लिए ही। सर्वदा एक ही वर्ग के व्यक्तियों को सुख और दुःख मिलने की अपेक्षा सुख और दुःख का बटवारा करना अच्छा है।"[1]

क्या एक निष्ठावान् समाजवादी ऐसी भावना या धारणा का पोषण करता है? क्या एक समाजवादी इस प्रकार हिचकिचाते हुए, मानो क्षमायाचना का भाव

१. 'विवेकानन्द साहित्य', खण्ड ५ (१९६२), पृ. ३८७।

भरकर, अपनी बात कहेगा ? आइए, हम और गहराई में उतरें।

स्वामी विवेकानन्द ने सोचा कि उनके अपने युग में विद्यमान सामाजिक अवस्था के फलस्वरूप समाजवाद का आगमन अनिवार्य रूप से होगा। यही नहीं, उस समय के वातावरण में उन्होंने उसके प्रति अपना रुझान भी प्रदर्शित किया। भारत में सामाजिक गतिशीलता का विश्लेषण करते हुए उन्होंने घोषणा की--

"तो भी एक ऐसा समय आएगा, जब शूद्रत्व सहित शूद्रों का प्राधान्य होगा, अर्थात् आजकल जिस प्रकार शूद्र जाति वैश्यत्व अथवा क्षत्रियत्व लाभ कर अपना बल दिखा रही है, उस प्रकार नहीं, वरन् अपने शूद्रोचित धर्म-कर्म सहित वह समाज में आधिपत्य प्राप्त करेगी।"[२]

उन्होंने भविष्यवाणी की--"सब बातों से यही प्रकट हो रहा है कि समाजवाद अथवा जनता द्वारा शासन का कोई स्वरूप, उसे आप चाहे जिस नाम से पुकारें, उभरना आ रहा है।"[३]

वे गरीबों के लिए रोये। "गरीबों के लिए, पददलितों के लिए मरते दम तक सहानुभूति---यह हमारा मंत्र है," उन्होंने घोषणा की और आगे कहा, "दुःखियों के दर्द का अनुभव करो और सहायता की याचना करो---वह आएगी ही।" और उसे आना ही है, क्योंकि स्वामीजी का विश्वास था कि ईश्वर भी गरीबों के लिए पीड़ा का अनुभव करता है और उन्हें उठाने के लिए बीच-बीच में अवतार

२. वही, खण्ड ९, पृ. २१९।

३. वही, खण्ड ४, पृ. २४३।

लिया करता है। वे जानते थे कि ईश्वर गरीबों के लिए पीड़ा का अनुभव करता है, फिर भी समाज ने उनकी कितनी उपेक्षा की है! वे कह उठे थे, "हम भारत में गरीबों और गिरे हुए लोगों के बारे में कितना कम ध्यान देते हैं यह सोच मेरा हृदय ऐंठने लगता था।" वे गरज उठे थे, "स्मरण रहे, राष्ट्र झोंपड़ियों में बसता है।" शूद्र ही धन के सच्चे उत्पादक हैं, फिर भी उनकी सदैव से उपेक्षा की जाती रही है और कल्पनातीत काल से चले आये इस अत्याचार और शोषण के फलस्वरूप ये शूद्र पशुवत् हो गये हैं तथा ऊपर उठने की प्रेरणा भी खो बैठे हैं। उनके परिश्रम के फल का बेहद शोषण और दुरुपयोग हुआ है। "ये लोग अभी तक मानव-बुद्धि द्वारा परिचालित यंत्र की तरह एक ही भाव से काम करते आये हैं, और बुद्धिमान् चतुर व्यक्ति इनके परिश्रम तथा कार्य का सार निचोड़ लेते रहे हैं।"[४] "उन्हें कोई अवसर नहीं मिलता, उनके लिए बचने का कोई रास्ता नहीं है और ऊपर चढ़ने का कोई मार्ग नहीं। वे प्रतिदिन अधिकाधिक नीचे डूबते जा रहे हैं; निर्दय समाज के द्वारा अपने ऊपर होनेवाले आघातों का वे अनुभव करते हैं, पर वे जानते नहीं कि ये आघात कहाँ से आ रहे हैं। वे भी दूसरों के समान मनुष्य हैं, इस बात को वे भूल गये हैं!"

उच्चवर्णवालों ने भी जनसाधारण को नीचे दबाये रखकर अपने को नीचे गिरा लिया है; क्योंकि यदि कोई व्यक्ति अपने भाई को नीचे गिराता है तो वह भी नैतिक और आध्यात्मिक दृष्टि से बिना गिरे नहीं रह सकता। भारत को अपनी आजादी खोनी पड़ी, क्योंकि उसने अपने

४. वही, खण्ड ६, पृ० १०७।

ही लोगों को आजादी से वंचित कर दिया।

स्वामीजी समाजवादियों के अन्य सभी सिद्धान्तों और भावनाओं से परिचित थे और उन्होंने बिना किसी हिचकिचाहट के स्पष्ट शब्दों में अपनी बात रखी, "समाज का नेतृत्व चाहे उनके हाथ में हो जो विद्या पर एकाधिकार रखते हैं, या फिर उनके हाथ में जो धन या सैन्य शक्ति पर अधिकार रखते हैं, उसकी शक्ति का उत्स तो सदैव अधीनस्थ जनता ही रही है।" "लोग अवश्य ही चाहेंगे कि उनकी भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति हो, परिश्रम कम करना पड़े, किसी प्रकार का अत्याचार न हो, कोई युद्ध न हो और खाने को अधिक अन्न मिले।" "भौतिक सभ्यता, यही नहीं शान-शौकत की भी आवश्यकता है, जिससे गरीबों के लिए काम पैदा हो सके।" धन की वर्तमान वितरण-प्रणाली गरीब को अधिक गरीब और धनवान् को अधिक धनवान् बनाती है। भारत के नीचे तबके के लोग "चिरकाल से चुपचाप काम करते जा रहे हैं, देश का धनधान्य उत्पन्न कर रहे हैं, पर अपने मुँह से शिकायत नहीं करते।"[५] फिलहाल उनमें एकता नहीं है और इसलिए शोषण का शिकार होते रहते हैं; पर वे आधुनिक ज्ञान से सम्पन्न हो रहे हैं और शीघ्र ही अपनी स्थिति का भान उन्हें होगा। जब वे अपनी निद्रा से जागेंगे, तो अपने प्रति किये गये सारे अत्याचारों का निवारण करेंगे। वह दिन दूर नहीं है!

स्वामीजी शूद्रों के उठने की इस सम्भावना से, और सम्भावना क्यों, अवश्यम्भाविता से आतंकित नहीं हुए; उल्टे वे तो उसका स्वागत ही करते यदि उनकी दशा को

५. वही, खण्ड ६, पृ. १०६।

सुधारने का और कोई बेहतर उपाय न मिलता। भारत के उच्चवर्णवालों ने जनसाधारण की जिस प्रकार उपेक्षा की थी तथा घटनाक्रम की ओर अपनी आँखें मूंद ली थीं, स्वामीजी उससे निराश हुए थे और गरज उठे थे—

"तुम ऊँची जातवाले, क्या जीवित हो?...जिन्हें 'सचल श्मशान' कहकर तुम्हारे पूर्वपुरुषों ने घृणा की है, भारत में जो कुछ वर्तमान जीवन है, वह उन्हीं में है और 'सचल श्मशान' हो तुम लोग।... तुम लोग शून्य में विलीन हो जाओ और फिर एक नवीन भारत निकल पड़े। निकले हल पकड़कर, किसानों की कुटी भेदकर, जाली, माली, मोची, मेहतरों की झोंपड़ियों से। निकल पड़े बनियों की दुकानों से, भुजवा के भाड़ के पास से, कारखाने से, हाट से, बाजार से। निकले झाड़ियों, जंगलों, पहाड़ों, पर्वतों से।... तुम ज्योंही विलीन होगे, उसी वक्त सुनोगे, कोटिजीमूतस्यन्दिनी, त्रैलोक्यकम्पनकारिणी भावी भारत की उद्‌बोधन ध्वनि—'वाहे गुरु की फतह'!"[६]

किसी भी तरह जनसाधारण को उठाना था और उनकी बेड़ियों को काटना था। ऊँचे वर्णवालों ने उन्हें ऊपर उठाने का अपना कर्तव्य नहीं निभाया, और यदि अपने कर्तव्य के प्रति उनकी यह उपेक्षा बनी रही, तो क्या यह श्रेयस्कर नहीं होगा कि जनता फिर स्वयं अपनी परवाह करे? लगता है स्वामीजी का चिन्तन कुछ इसी प्रकार का चल रहा था।

यहाँ तक तो हम समाजवादियों के साथ हाथ में हाथ मिलाकर चल सकते हैं; पर कुछ आगे जाकर ही दोनों के रास्ते अलग हो जाते हैं!

६. वही, खण्ड ८, पृ. १६७-६८।

हम फिर से पूछते हैं : स्वामीजी यथार्थतः किससे जुड़े थे——अध्यात्म से या समाजवाद से ? हम इस पर स्वामीजी की अपनी बात सुनें——"मेरा आदर्श अवश्य ही थोड़े से शब्दों में कहा जा सकता है, और वह है—मनुष्य-जाति को उसके दिव्य स्वरूप का उपदेश देना, तथा जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में उसे अभिव्यक्त करने का उपाय बताना।"[७] कहीं किसी के मन में स्वामीजी के अन्तर्मन के सम्बन्ध में अब भी किसी प्रकार की गलतफहमी की रेख न रह जाय, इसलिए हम उनका एक दूसरा प्रभावी उद्धरण देते हैं——

"भारत को समाजवादी अथवा राजनीतिक विचारों से प्लावित करने के पहले आवश्यक है कि उसमें आध्यात्मिक विचारों की बाढ़ ला दी जाय। सर्वप्रथम, हमारे उपनिषदों, पुराणों और अन्य सब शास्त्रों में जो अपूर्व सत्य छिपे हुए हैं, उन्हें इन सब ग्रन्थों के पन्नों से बाहर निकालकर, मठों की चहारदीवारियाँ भेदकर... सर्वत्र बिखेर देना होगा।"[८]

अब प्रश्न यह है कि यदि स्वामीजी सचमुच ही ऐसा सोचते थे, तो वे समाजवाद की ओर क्यों मुड़े ? उत्तर के रूप में हमने पहले ही जनसाधारण के प्रति उनकी अगाध सहानुभूति का उल्लेख किया है। अपने गुरु श्रीरामकृष्णदेव से उन्होंने दरिद्रनारायण की उपासना का जो दर्शन विरासत के रूप में प्राप्त किया, वह भी इसके लिए समान रूप से उत्तरदायी था। बल्कि हम यह कह सकते हैं कि उनकी यह सहानुभूति उनके आध्यात्मिक विश्वास की स्वाभाविक परिणति थी। जीवन की समस्या के प्रति उनका

७. वही, खण्ड ४, पृ. ४०७।

८. वही, खण्ड ५, पृ. ११६।

जो युक्तिसंगत दृष्टिकोण था, इस सहानुभूति के पीछे उसकी भूमिका भी कुछ कम नहीं थी। वे जानते थे कि लोग एकदम से अपनी सीमाओं को नहीं लाँघ सकते; व्यक्तिगत सामर्थ्य और क्रमिक उन्नति नाम की भी चीजें होती हैं। सभी छुरे की धार के समान तीक्ष्ण अध्यात्म के श्रेष्ठ पथ पर चल नहीं सकते, उसके लिए तो दीर्घ पूर्व-तैयारी आवश्यक होती है। मोटे तौर पर, व्यक्ति को उदासीनता या अकर्मण्यता से ऊपर उठकर लगाव और गतिशीलता में आना होता है, और गतिशीलता से फिर ईश्वर की इच्छा के प्रति पूर्ण समर्पण में। पतनोन्मुखी बौद्ध धर्म की भूल यह थी कि उसने अनजान में त्याग के द्वारा तुरन्त जागतिक मुक्ति की सम्भावना पर विश्वास कर लिया और इस प्रकार संन्यास के दरवाजे सबके लिए खोल दिये। पर स्वामीजी की धारणा अलग थी। उन्होंने समाज की दशा पर गौर किया और एक अत्यन्त संकेतपूर्ण प्रश्न रखा—"सारे भारतवर्ष में लगभग एक लाख नर-नारी ही यथार्थ रूप से धार्मिक हैं। अब प्रश्न यह है कि क्या इतने लोगों की धार्मिक उन्नति के लिए भारत के तीस करोड़ अधिवासियों को बर्बरों का-सा जीवन व्यतीत करना और भूखों मरना होगा?"[९] एक दूसरे स्थान पर उन्होंने कहा था कि जब तक देश का एक कुत्ता भी भूखा रहता है, तब तक उसके लिए भोजन जुटाना ही मेरा पहला कर्तव्य होगा। इस सबके बावजूद वे बहुतेरे समाजवादियों से मूलत: भिन्न थे। उनका कहना यह था कि यद्यपि लोगों के लिए रोटी जुटानी होगी और उनके जीने का स्तर उठाना होगा, पर यह धर्म की कीमत पर नहीं होगा। फिर, उन्हें

९. वही, खण्ड ३, पृ. ३३४।

सामाजिक उन्नति और आध्यात्मिक प्रगति में कोई विरोध नहीं दिखाई दिया। वे चाहते थे कि आम जनता अपनी आध्यात्मिक विरासत को अक्षत बनाये रखकर ऊपर उठे। "क्या उनका खोया हुआ व्यक्तित्व, बिना उनकी स्वाभाविक आध्यात्मिक वृत्ति नष्ट किये, उन्हें वापस दिला सकते हो ?"[१०]—यह स्वामीजी का प्रश्न था। उनका मंत्र था—'धर्म को बिना हानि पहुँचाये जनता की उन्नति'।[११]

उनका यह भी विश्वास था कि आम जनता को ऊपर उठाने में धर्म एक सक्रिय भूमिका निभा सकता है। उनका सरल सिद्धान्त था कि जो वेदान्त-ज्ञान मोक्ष पक्का कर सकता है, वह निश्चय ही मनुष्यों को अन्न एवं जीवन की अन्य आवश्यक वस्तुओं के उत्पादन के लिए पर्याप्त शक्ति भी प्रदान कर सकता है।

स्वामीजी ने न तो मार्क्स की इतिहास की भौतिक-वादी व्यवस्था को स्वीकार किया, न हेगेल की आदर्शवादी व्याख्या को। उनकी व्याख्या को हम आध्यात्मिक कह सकते हैं। न तो मार्क्स के समान उन्होंने जड़ की प्रभुता पर विश्वास किया और न वे हेगेल से इस बात पर सहमत हुए कि 'परम भाव' (Absolute Idea) अनिश्चित काल तक विकसित होता रहेगा। सामाजिक परिवर्तनों के सम्बन्ध में उनका अपना सिद्धान्त था। उनका विश्वास था कि यद्यपि सामाजिक विकास का ध्येय प्रगति है, पर यह प्रगति सरल रेखा में नहीं साधित होती, उसकी गति तरंगवत् होती है—"कोई भी प्रगति सरल रेखा में नहीं होती"; "सारी प्रगति क्रमागत उत्थान और पतन के

१०. वही, खण्ड २, पृ. ३२१।
११. वही।

माध्यम से साधित होती है"। उन्होंने यह भी कहा—"मनुष्य के देवत्व की अभिव्यक्ति ही सभ्यता है"; "अध्यात्म का प्रकाशन ही सभ्यता है"। फिर भी यह सही नहीं है कि अध्यात्म या जड़वाद चिरकाल के लिए पृथ्वी पर शासन करता हो। स्वामीजी ने कहा, "जड़वाद और अध्यात्म बारी बारी से समाज में प्रभुत्व लाभ करते हैं।" इसी प्रकार क्रमविकास और क्रमसंकोच भी एक के बाद एक सामाजिक परिवर्तन लाने में अपनी अपनी भूमिका का निर्वाह करते हैं। जब तथ्य विपरीत दृष्टिकोण की पुष्टि करते हैं, तब यह मानना कि मानवसमाज अपने विकास के लिए जैविक प्रक्रियाओं पर निर्भर करता है, तर्कविरुद्ध है। जैविक प्रक्रियाएँ तो निम्न योनियों के स्तर पर जीवन-संग्राम और बलिष्ठ-अतिजीविता के रूप में कार्यशील रहती हैं, परन्तु मानवसमाज में उन्नति प्रेम, सहानुभूति और सहयोग के माध्यम से साधित होती है।

भले ही स्वामीजी अध्यात्म की प्रभुता के समर्थक थे, फिर भी भौतिक दृष्टिकोण को उन्होंने त्यागा नहीं। दो प्रवृत्तियाँ सतत कार्यशील हैं—एक अध्यात्म की और दूसरी भौतिकता की। मानव-स्वभाव को देखते हुए आज के सामाजिक विकास के सन्दर्भ में इनमें से किसी एक को बलपूर्वक नष्ट करना युक्तिहीनता का कार्य होगा। पर यह हमारा दुर्भाग्य है कि "वर्तमान हिन्दू समाज केवल आध्यात्मिक लोगों के लिए संगठित है और वह अन्य सब कुछ को निर्ममता से कुचल देता है। क्यों? जो इस दो दिन की दुनिया का थोड़ा मजा लेना चाहते हैं, वे कहाँ जाएँगे?"

अन्त में, सबकी समानता दूर की बात है; बल्कि हमें

प्रकृति के नियम के रूप में बहुलता में एकता के सिद्धान्त को ग्रहण करना चाहिए। स्वामीजी कहते हैं, "हम कितनी भी कोशिश करें यह कभी सम्भव नहीं कि सब मनष्य समान होंगे। मनुष्य अलग-अलग ही पैदा होंगे—कुछ में दूसरों की अपेक्षा अधिक शक्ति होगी; कुछ में जन्मजात सामर्थ्य होगी, दूसरों में नहीं; कुछ के शरीर निर्दोष होंगे, दूसरों के नहीं।" तब इस पहेली में से निकलने का रास्ता क्या है? मनुष्य प्रकृति के इस वैषम्य को बिना संघर्ष किये सिर झुकाकर स्वीकार नहीं कर लेता। उसकी विशिष्टता इसमें है कि उसमें जो पूर्णता पहले से निहित है, उसे अभिव्यक्त करने के लिए उसमें प्रकृति को लाँघने की सम्भावना विद्यमान है। यद्यपि स्वामीजी को ऐसा लगा कि यदि ऊँची जातियों की उदासीनता पूर्ववत् बनी रही तो वर्ग-संघर्ष अनिवार्य हो जाएगा, तथापि धार्मिक व्यक्ति होने के कारण वे उसे स्वीकृति नहीं दे सकते थे। अत: उच्चवर्ण वालों को उन्होंने सलाह दी कि वे आम जनता की आवश्यकताओं के प्रति अधिक सक्रिय रूप से जागरूक बनें। संघर्ष टालने के लिए उन्हें जनसाधारण की बौद्धिक एवं सांस्कृतिक उन्नति की कोशिश करनी होगी। स्वामीजी उस अर्थ में क्रान्तिकारी नहीं थे, जिस अर्थ में सामान्य रूप से इस शब्द को समझा जाता है। यह सही है कि उन्होंने स्वयं को आमूल-चूल सुधारक घोषित किया, पर इस सुधार का आधार आध्यात्मिक मूल्य थे और वह विकास की प्रक्रिया में से होकर गुजरता। उन्होंने कहा, "मैं जिसमें विश्वास करता हूँ, वह है विकास।" फिर, वह आम जनता के द्वारा लाया जाना था, उसे बाहर से उन पर लादा नहीं जा सकता था। स्वामीजी ने लिखा, "उनमें (आम जनता में)

विचार पैदा करना होगा। उनके चारों ओर दुनिया में क्या क्या हो रहा है, इस सम्बन्ध में उनकी आँखें खोल देनी होंगी; बस, फिर वे अपनी मुक्ति स्वयं सिद्ध कर लेंगे।... हमें केवल रासायनिक सामग्रियों को इकट्ठा भर कर देना है, उनका निर्दिष्ट आकार प्राप्त करना—रवा बँध जाना तो प्राकृतिक नियमों से ही साधित होगा। हमारा कर्तव्य है, उनमें भावों का संचार कर देना—बाकी वे स्वयं कर लेंगे।"[१२]

संसार में परिवर्तन लाना था; पर वह लाया कैसे जाय? हम स्वामीजी से ही सुनें, "मैं इन तरुणों को संगठित करने के लिए पैदा हुआ हूँ...और मैं इन्हें देश भर में दुर्दमनीय तरगों की भाँति भेज देना चाहता हूँ, जिससे वे नीच से नीच और पददलित के दरवाजे तक सुख-सुविधा, नैतिकता, धर्म और शिक्षा पहुँचा सकें। यह मैं करूँगा या मरूँगा।" अपनी दशा सुधारने के लिए प्रत्येक को समान अवसर मिलना चाहिए—"समाज के हर व्यक्ति को धन, शिक्षा और विद्या प्राप्त करने के समान अवसर मिलने चाहिए।" इसका मतलब यह नहीं कि हर समाज इस प्रकार के समान अवसर प्रदान करता हो। कम से कम स्वामीजी के युग के भारतीय समाज ने तो ऐसा नहीं किया, इसलिए उनका यह दृढ़ मत था कि "जो सामाजिक नियम-कानून इस स्वाधीनता के प्रकट होने के रास्ते बाधक हैं, वे हानिकारक हैं तथा उनको शीघ्र ही नष्ट करने का उपाय करना चाहिए", क्योंकि "स्वाधीनता ही उन्नति की पहली शर्त है"।

क्या स्वामीजी यह सोचकर सन्तुष्ट थे कि समाजवाद

१२. वही, पृ. ३६९-७०।

उन्नति की इस शर्त को पूरा करेगा ? बहुत सम्भव नहीं, जैसा कि समाजवाद की उनकी व्याख्या से झलकता है। वे कहते हैं, "जो समाज के आधिपत्य के लिए व्यक्तिगत स्वतंत्रता का त्याग चाहता है, वह सिद्धान्त समाजवाद कहलाता हैं और जो व्यक्ति के पक्ष का समर्थन करता है, वह व्यक्तिवाद कहलाता है।"[१३] उनके आकलन के अनुसार, हिन्दू समाज वहीं तक समाजवादी है, जहाँ तक कि वह व्यक्ति के जीवन को हर मोड़ पर समाज में उसका स्थान, आजीविका के उसके उपाय, पत्नी का चुनाव तथा ऐसे ही कई विषयों को निश्चित करते हुए नियंत्रित करता है। उनके लिए यह करामलकवत् स्पष्ट था कि व्यक्तिगत स्वातंत्र्य के इस अभाव ने सब ओर थमाव पैदा कर दिया। फिर सामाजिक समानता भी व्यवहार में मात्र वैचारिक तंग रास्तों का ही तो निर्माण करती है, इसलिए स्वामीजी उसे भी पसन्द नहीं करते थे। उनका अपना रुझान एक ऐसे भावी समाज के लिए था, जिसमें इसलामी शरीर और वेदान्ती मस्तिष्क का—सामाजिक समानता तथा बौद्धिक और आध्यात्मिक स्वाधीनता का मेल हो। पूर्व और पश्चिम की मनोगतियों का विश्लेषण करते हुए उन्होंने घोषणा की—

"भारत में हम सामाजिक साम्यवाद पाते हैं, जिस पर और जिसके चारों ओर अद्वैत—अर्थात् आध्यात्मिक व्यक्तिवाद का प्रकाश पड़ रहा है। यूरोप में तुम सामाजिक दृष्टि से व्यक्तिवादी हो, किन्तु तुम्हारे विचार द्वैतवादी हैं, जो आध्यात्मिक साम्यवाद है। इस प्रकार एक व्यक्तिवादी विचारों से घिरी हुई समाजवादी संस्थाओं से निर्मित है और दूसरा साम्यवादी विचारों से घिरी हुई

१३. वही, खण्ड ७, पृ. ३५७।

व्यक्तिवादी संस्थाओं से निर्मित है।"[१४]

स्वामीजी जानते थे कि अन्यत्र के ढाँचे पर भारत को गढ़ने के उपाय किये जा रहे हैं। स्वाभाविक ही वे इस प्रकार के परिवर्तन के पक्षधर नहीं थे, भले ही उन्होंने कई बार इसकी तरफदारी की कि भारतीय तथा यूरोपीय आदर्शों में जो-जो श्रेष्ठ तत्त्व हैं, उन सबका मेल किया जाय। उन्होंने पूछा, "भारत का धर्म लेकर एक यूरोपीय समाज का निर्माण कर सकते हो ?" और इसका उत्तर स्वयं देते हुए कहा, "मुझे विश्वास है कि यह सम्भव है और एक दिन ऐसा अवश्य होगा।"[१५] पर उन्होंने इस बात को वहीं छोड़ दिया। उन्होंने भविष्य के आदर्श मानव के रूप में बुद्ध के हृदय और शंकर की बुद्धि के मेल की बात भी सोची। किन्तु अब भी वे जिस लक्ष्य को पाना चाहते थे, उसका स्पष्ट निर्वचन नहीं कर पाये थे; जो कुछ उन्होंने कहा, वह तो उसकी मात्र आंशिक अभिव्यक्तियाँ ही थीं। जाति के प्रश्न पर विचार करते हुए उनके मन में एक नयी योजना उभरी—"यदि इस प्रकार का एक राष्ट्र बन सके, जहाँ पुरोहित का ज्ञान, योद्धा की संस्कृति, व्यापारी की वितरणशीलता और अन्तिम वर्ग की समता का आदर्श ज्यों के त्यों बने रहें पर उनके दोष अलग हटा दिये जायँ, तो वह आदर्श राष्ट्र होगा। पर ऐसा हो सकना क्या सम्भव है ?" प्रश्न ने स्वयं उनके संशय का संकेत किया। इस सन्दर्भ में फिर से समाजवाद उनके मन में एक सम्भव विकल्प के रूप में कौंधा और, जैसा कि हम देख चुके हैं, वे इसे 'नहीं मामा से काना मामा अच्छा' के सिद्धान्त पर

१४. वही, खण्ड ८, पृ. १३४।
१५. वही, खण्ड ३, पृ. ३३४।

स्वीकार करने के लिए तैयार भी थे। यदि आम जनता को भौतिक और आध्यात्मिक दोनों दृष्टियों से उठाने के लिए और कोई श्रेष्ठ उपाय न था, तो समाजवाद उनके लिए स्वागत-योग्य प्रयोग ही होता, यदि उसे अध्यात्म से परिपुष्ट किया जा सकता।

इस प्रकार स्वामीजी विविध सम्भव सामाजिक संस्थानों और बैठ-बिठाव की सहायता से मानव-समाज में सुधार के उपायों पर चिन्तन करते रहे। पर वे पूरी तरह से समझते थे कि पार्लियामेण्ट मनुष्य का निर्माण नहीं कर सकती; अपितु वह मनुष्य है, जो पार्लियामेण्ट का निर्माण करता है।[१६] अतः सामाजिक कल्याण के लिए यद्यपि उन्होंने संगठित कार्यप्रणाली का विचार किया, पर धर्म के क्षेत्र के व्यक्ति होने के नाते वे अन्ततोगत्वा समाज को बनानेवाले हर घटक के आध्यात्मिक उन्नयन के कार्य की ओर खिंच गये। इस दृष्टि से उन्होंने सामाजिक उत्थान के अपने चरम लक्ष्य को इन शब्दों में प्रस्तुत किया—"हम शास्त्रों में देखते हैं, सत्ययुग में पृथ्वी पर केवल एक जाति थी और वह ब्राह्मण थी। महाभारत में हम देखते हैं, पुराकाल में सारी पृथ्वी पर केवल ब्राह्मणों का ही निवास था। फिर, जब कल्पचक्र घूमता-घूमता सत्ययुग आ

१६. देखें, वही, खण्ड ४, पृ. २३४ : 'कोई राष्ट्र इसलिए महान् और अच्छा नहीं होता कि पार्लियामेण्ट ने यह या वह पास कर दिया है, वरन् इसलिए होता है कि उसके निवासी महान् और अच्छे होते हैं।' पुनः देखें पृ. २४१ : 'आपके यहाँ एक कहावत है कि लोगों को पार्लियामेण्ट के कानून से पुण्यात्मा नहीं बनाया जा सकता।... और इसलिए धर्म राजनीति की अपेक्षा अधिक गहरे महत्त्व की वस्तु है, वह जड़ तक पहुँचता है और आचरण के सार से सम्बन्ध रखता है।'

पहुँचेगा, तब फिर से सभी ब्राह्मण ही हो जाएँगे। वर्तमान युगचक्र भविष्य में सत्ययुग के आने की सूचना दे रहा है।"[१७] "सत्ययुग का यह विचार ही भारत को पुनः जीवन प्रदान करेगा। विश्वास रखो। ... बच्चो, उठो, काम में लग जाओ! ... चिरकाल तक सनातन धर्म का डंका बजेगा! ... उठो, उठो, मेरे बच्चो, हमारी विजय निश्चित है!"[१८] 'ब्राह्मण' शब्द से उनका अर्थ था श्रेष्ठतम मानव, जो आध्यात्मिक और शान्तिपूर्ण हो, सबके प्रति स्नेह और सदाशयता से भरा हो, जिसमें स्वार्थ का लेश न न हो और साथ ही जो सर्वोच्च ज्ञान से सम्पन्न हो। उन्होंने इसी अर्थ में घोषणा की थी, "मेरे सारे शिष्य ब्राह्मण हैं!"

उन्होंने ब्राह्मणत्व को पुरोहिती से अलग रखा। पुरोहिती के लिए उनके मन में अपार घृणा थी। उन्होंने कहा था, "पुरोहिती-प्रपंच ही भारत की अधोगति का मूल कारण है।"[१९] वह, उनकी दृष्टि में, घनीभूत अत्याचार का रूप था। कुछ पश्चिमी समाजशास्त्रियों ने आम जनता के पिछड़ेपन के लिए धर्म पर दोषारोपण किया था, किन्तु स्वामीजी का यह दृढ़ विश्वास था कि वास्तव अपराधी धर्म नहीं, पुरोहित-प्रपंच था, जिसने अत्याचार के सारे रास्ते ईजाद किये थे। अतः जनसाधारण की उन्नति के लिए पुरोहिती को जड़-मूल से निकाल फेंकना जरूरी था। फिर, भले ही उन्होंने स्वीकार किया कि सत्ययुग के आते तक विषमता बनी रहेगी, उन्होंने शारीरिक या बौद्धिक श्रेष्ठता के बल पर किसी प्रकार के विशेषाधिकार को

१७. वही, खण्ड ५, पृ. ९३-९४।
१८. वही, खण्ड २, पृ. ३४३।
१९. वही, खण्ड ९, पृ. ३५६।

स्वीकृति नहीं दी : "हमें विशेषाधिकार का भाव अवश्य त्याग देना होगा, तभी धर्म आएगा। उसके पूर्व धर्म का लेश भी नहीं है।"[२०] "अन्य के ऊपर सुविधा के उपभोग को विशेषाधिकार कहते हैं।"[२१] समाजवादी और साम्यवादी धन की प्राप्ति और उसके वितरण के क्षेत्रों में इस विशेषाधिकार को मिटाने पर तुले हैं, पर उन्हें आंशिक सफलता ही मिल पायी है। किन्तु विशेषाधिकार के अन्य सूक्ष्म रूपों पर विजय पाने में वे तनिक भी सफल नहीं हुए हैं। स्वामीजी का दृष्टिकोण अधिक मौलिक था, क्योंकि वे मनुष्य को उसके यथार्थ आध्यात्मिक स्वरूप के प्रति अधिकाधिक जागरूक बना उसके नैतिक दृष्टिकोण में परिवर्तन लाना चाहते थे। उन्होंने प्राणिमात्र की मूलभूत दिव्यता की घोषणा करनेवाले अद्वैत वेदान्त में समस्त सामाजिक बुराइयों की रामबाण दवा देखी।

पुरोहिती और विशेषाधिकार को मिटाने तथा सत्ययुग के शुभारम्भ—नहीं, उसके पोषण—हेतु अद्वैत वेदान्त के सन्देश को सर्वत्र प्रचारित करने के सिवा स्वामीजी ने आम जनता और ऊँची जातिवालों की मानसिक प्रवृत्तियों को बदलने पर जोर दिया। सच कहें तो स्वामीजी का यह विश्वास था कि श्रीरामकृष्ण के आगमन के साथ सत्ययुग का शुभारम्भ हो गया है। संघर्ष से दोनों में से किसी भी पक्ष का भला होनेवाला नहीं था; उससे दोनों की ही हानि होती। उच्चवर्णवालों को गिराकर निम्नवर्णवालों का उत्थान नहीं होने का; उनकी सच्ची

२०. वही, पृ. १०५।
२१. वही, पृ. ११२।

नियति तो अपने को आध्यात्मिक और सांस्कृतिक रूप से ऊपर उठाने में है। दूसरों को दोष देते रहने से काम बनने का नहीं; उन्हें प्रयास करना होगा और उन गुणों को आत्मसात् करना होगा, जो दूसरों को महान् बनाते हैं। उन्होंने कहा—

"ऊँची जातियों को नीची करने, मनचाहे आहार-विहार करने और क्षणिक सुख-भोग के लिए अपने-अपने वर्णाश्रम-धर्म की मर्यादा तोडने से इस जातिभेद की समस्या हल नहीं होगी। इसकी मीमांसा तभी होगी जब हम लोगों में से प्रत्येक मनुष्य वेदान्ती धर्म का आदेश पालन करने लगेगा, जब हर कोई सच्चा धार्मिक होने की चेष्टा करेगा, और प्रत्येक व्यक्ति आदर्श बन जाएगा।"[२२]

स्वामीजी के मतानुसार, यदि आध्यात्मिक उत्थान के बिना समाजवाद आ भी गया तो वह टिकेगा नहीं। "इसकी क्या गारण्टी है कि यह या वह सभ्यता टिकेगी, जब तक कि वह धर्म पर, मनुष्य की भलमनसाहत पर आधारित नहीं होती?" "वह संस्कृति है जो धक्के को झेल लेती है, कोरा ज्ञान का पिटारा ऐसा नहीं कर सकता।... जब तक तुम आम जनता को वह नहीं देते, तब तक उनकी समुन्नत अवस्था में स्थायित्व नहीं आएगा।"

ऊँची जातिवालों के प्रति उनका उद्‌बोधन था—"गरीब, पददलित, अज्ञानी—ये ही तुम्हारा ईश्वर हों।" उच्चवर्णवालों को इसलिए देना चाहिए कि उनके पास देने को है। उन्हें अपने धार्मिक कर्तव्य के रूप में विद्या और संस्कृति का दान करना चाहिए। उन्होंने चेतावनी दी कि यदि वे ऐसा नहीं करते हैं, तो उनके दिन इने-गिने रह गये। तब शूद्र अपना शूद्रत्व लेकर—ब्राह्मण बनकर

२२. वही, खण्ड ५, पृ. ९४।

नहीं——ऊपर उठेंगे और ब्राह्मणों से सब कुछ छीन लेंगे। जो नीचे हैं, उन्हें ऊपर उठाना है; जो ऊपर हैं, उन्हें नीचे नहीं गिराना है। इसलिए सावधान !

अतएव हमारा निष्कर्ष यह है कि जिस अर्थ में समाजवाद आज समझा जाता है, स्वामीजी कभी भी उसके सक्रिय पक्षधर नहीं रहे, तथापि जनसाधारण के लिए उनका प्यार और उनकी उन्नति के लिए उनकी आतुरता इतनी तीव्र थी कि अपने लक्ष्य की प्राप्ति हेतु यदि उन्हें कोई बेहतर उपाय न मिलता, तो वे समाजवाद को अपने अर्थों में स्वीकार कर लेते और देखते कि उस समाजवाद के लिए कोई आध्यात्मिक आधार प्रस्तुत किया जा सकता है या नहीं। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि स्वामीजी ने एक राजनैतिक सिद्धान्त के रूप में समाजवाद को समाज की बुराइयों के लिए रामबाण दवा नहीं बतायी। उनका सन्देश तो अध्यात्म का था और समाजवाद मात्र एक समझौता था, यदि उससे बेहतर और कुछ न मिल सकता था।

समग्र भारत के पुनर्जीवन के लिए जितने भी उपाय सम्भव थे, स्वामीजी ने उन सबका विचार किया और अन्त में सत्ययुग की अपनी धारणा में आस्था केन्द्रित की। इसके क्रियान्वयन के लिए उन्होंने उच्चवर्णवालों का मुँह जोहा। पर यदि वह अपेक्षित सहायता उन्हें न भी मिलती, तो भी जिन उदात्त भावों का उन्होंने आविष्कार किया था, वे उनका उद्देश्य पूरा करते; क्योंकि उनमें, या यों कहें कि अद्वैतवाद की उस अकेली धारणा में जिसमें उन समस्त भावों का अन्तर्भाव है, इतनी शक्ति है कि उससे भारत और समूचे विश्व का पुनरुज्जीवन सम्भव है। ○

स्वामी विवेकानन्द

विनोबा

(भूदान-प्रणेता श्री विनोबा भावे ने अपनी पैदल-यात्रा के दौरान आसाम के गोलपारा जिले के फाउजुरीपारा ग्राम में पड़ाव करते हुए १४ अगस्त १९६२ को जो भाषण दिया था, वह 'भूदान-यज्ञ साप्ताहिक' के ७-९-६२ के अंक में छपा था, जहाँ से प्रस्तुत लेख साभार गृहीत हुआ है। —स०)

हमारी यात्रा में हम इतने मग्न रहते हैं कि बहुत दफा बहुत-सी महत्त्व की घटनाओं का भी ख्याल नहीं रहता। जो काम हमने उठाया है और भगवान् ने हमें सौंपा है, उसमें पूर्ण तन्मय होना हमारा धर्म ही है। लेकिन उसके साथ-साथ अन्य प्रेरणादायी घटनाएँ या भावनाएँ समाज में होती हैं, उनके विषय में भी हमको जागरूक रहना चाहिए। उससे हमको बल ही मिलता है।

आज चौदह अगस्त है और स्वामी विवेकानन्द के जन्म का यह शतसांवत्सरिक दिन* है। उनके जन्म को आज सौ साल हुए। उनकी मृत्यु अल्प आयु में ही हुई थी। वे चालीस साल पूरे नहीं कर पाये थे। उन्होंने अल्प आयु में बहुत मेहनत की। जनाधार पर रहे, भगवान् पर सब सौंपकर पूर्ण निर्भयता से उन्होंने काम किया। शांकर वेदान्त में इस युग में इतना पराक्रमशील व्यक्तित्व शायद दूसरा कोई नहीं मिलता। महाराष्ट्र में ज्ञानदेव, कर्नाटक में विद्यारण्य ऐसे नाम हैं, जिन्होंने अपने जमाने में और अपने प्रदेश में जो असर डाला है, वह अमित है और आज भी वह कम नहीं हुआ है, बल्कि जहाँ तक ज्ञानदेव का ताल्लुक है, वह असर बढ़ रहा है। फिर ये

---

* वस्तुत: सन १९६२ का वर्ष स्वामी विवेकानन्द की जन्म-शताब्दी का वर्ष था। उनका जन्म १२ जनवरी १८६३ को हुआ था। (स०)

मिसालें पुराने जमाने की हुई। आधुनिक युग में वेदान्त का इतना महान् आचार्य जिसने दुनिया का ध्यान एकदम खींच लिया, दूसरा ध्यान में नहीं आता।

अद्वैत के साथ उपासनाएँ हो सकती हैं, यह तो मूल शांकर-विचार में ही था। शंकराचार्य ने स्वयं पंचायतन-पूजा की स्थापना की थी और उपासना का समन्वय किया था। यह उपासना-समन्वय उन्होंने जिस जमाने में किया था, उस जमाने के लिए पर्याप्त था। लेकिन आधुनिक समय के लिए वह अपर्याप्त है। इसलिए उसमें इसलाम, ईसाई आदि उपासनाएँ जोड़ने का काम इस युग में श्रीरामकृष्ण परमहंस ने किया। विवेकानन्द उनके सर्वोत्तम शिष्य थे। यह उपासना-समन्वय उनको अपने गुरु से सहज ही प्राप्त था। लेकिन शांकर-विचार के लिए यह कोई नयी बात नहीं मानी जाएगी, क्योंकि उसका मूल आरम्भ शंकराचार्य ने स्वयं ही किया था——अद्वैत को भक्ति के साथ जोड़ा। यह अलग बात है कि उनके बाद ऐसे अनेक आचार्य भारत में हुए कि शांकर-विचार में भक्ति को जितना स्थान मिला था, उससे उनका समाधान नहीं हुआ और उसमें भक्ति को अधिक उत्कट स्वरूप देने की कोशिश उन्होंने की——जैसे विष्णु स्वामी, रामानुज, निम्बार्क, वल्लभ इत्यादि। लेकिन वेदान्त के साथ भक्ति का समन्वय यह पुरानी ही बात मानी जाएगी।

विवेकानन्द ने विशेष बात यह की कि अद्वैत के साथ, जिसमें परमेश्वर की भिन्न-भिन्न उपासनाएँ समाविष्ट होती हैं, उन्होंने आर्त-सेवा और दरिद्रनारायण की सेवा को जोड़ दिया। यह शब्द भी उनका अपना है——'दरिद्र-नारायण'। और प्लेग के दिनों में, जैसे महाराष्ट्र में लोकमान्य

तिलक ने, वैसे बंगाल में विवेकानन्द ने साक्षात् सेवा का बहुत काम किया था। यहाँ सहज ही यह कहने की खुशी होती है कि लोकमान्य और विवेकानन्द की आध्यात्मिक बनावट में कोई फर्क नहीं था, सिवा इसके कि लोकमान्य कर्मयोग-क्षेत्र में और उससे भी खास करके राजकारण में काम करते थे, जैसा विवेकानन्द ने प्रत्यक्षत: नहीं किया। मैं तो यह कहता था कि दरिद्रनारायण की सेवा में यह विचार अद्वैत के साथ जोड़ने की प्रक्रिया स्वामी विवेकानन्द ने की थी। उसके बाद वह शब्द जो लोकमान्य को बड़ा प्रिय था और देशबन्धु चित्तरंजन दास ने प्रचलित किया, उस शब्द को घर-घर पहुँचाने का काम और तदनुसार कुल रचनात्मक कार्य को जोड़ने का काम महात्मा गाँधी ने किया। महात्मा गाँधी और स्वामी विवेकानन्द की प्रतिभा भी एकरूप थी। महात्मा गाँधी लोकमान्य से अधिक अन्तरनिष्ठ थे, बाह्य जीवनाकार में; इसलिए वे विवेकानन्द के बहुत नजदीक आते हैं। महापुरुषों की तुलना नहीं करनी चाहिए, न करना योग्य है, न करने की जरूरत है। लेकिन जिनका भारत पर अत्यन्त उपकार हुआ है, ऐसे ये पुरुष थे, जिनका अभी हमने स्मरण किया।

दु:खितों की सेवा का ईश्वर-उपासना के तौर पर अपने शब्दों से और अपनी कृति से विश्व को सन्देश देने-वाला ईसामसीह से बढ़कर कोई नही। इसके पहले महात्मा गौतम बुद्ध ने इसकी प्रेरणा उससे भी अधिक गहरे रूप में भारत को दी थी—करुणा की प्रेरणा, जिसकी लपेट में मानव के साथ प्राणियों को भी स्थान मिला था। निस्संशय वह प्रेरणा बहुत गहरी थी। लेकिन जिसे हम प्रत्यक्ष मानव-सेवा का नाम आजकल देते हैं उस कल्पना

का विशेष रूप से, व्यापक रूप से आविर्भाव ईसामसीह के शिक्षण में होता है। जहाँ तक मैं समझा हूँ, ईसामसीह अद्वैती ही थे—भले ही उस दार्शनिक अर्थ में न हों, जिस अर्थ में शंकर अद्वैती थे। लेकिन 'अमृतस्य पुत्राः'—'अमृत के पुत्र,' 'परमात्मा के पुत्र' यह संज्ञा पिता-पुत्र को अभेद मानकर उपनिषदों में दी थी। वह वेदों में भी दी थी। यही भाषा ईसामसीह साक्षात् बोलते थे और उस जमाने के लोग इस अद्वैत-विचार को ईश्वर के विरुद्ध एक अपराध के तौर पर मानते थे। इसलिए वे ईसामसीह पर चिढ़े हुए थे और जैसे मन्सूर को 'अनलहक' कहने के लिए पत्थर की मार खाकर मरना पड़ा, वैसे ईश्वर-पुत्र और ईश्वर से अभिन्न होने के कारण ईसामसीह क्रूस पर चढ़ाये गये, ऐसा मैं मानता हूँ।

मैंने कहा दार्शनिकवाद हम छोड़ दें तो ईसामसीह की की भूमिका तत्त्वतः अद्वैत वेदान्त के अत्यन्त निकट आती है, खास करके पॉल की बाइबिल पर से यह बात स्पष्टरूपेण ध्यान में आती है। फिर भी जहाँ तक भारतीय वेदान्त का ताल्लुक है, अद्वैत के साथ मानव-सेवा जोड़ने का काम सर्वप्रथम विवेकानन्द ने किया, ऐसा ही मानना चाहिए। यह बहुत बड़ी चीज उन्होंने की, जिसके परिणामस्वरूप भारतवर्ष ने जीवन के क्षेत्र में समन्वय का आदर्श प्राप्त किया, जिसमें अद्वैतविज्ञान के साथ विभिन्न उपासनाएँ, मानव-सेवा तथा जीव-सेवा समन्वित हुई हैं। महात्मा गाँधी ने उस मानव-सेवा के विचार को और भी व्यापक बनाकर उसके साथ उत्पादक शरीर-परिश्रम की भी आवश्यकता स्पष्ट की।

मैं जब इस सब पर सोचता हूँ, तो मुझे बड़ा आश्चर्य

होता है। इतने ये नये-नये विचारों के पहलू निकलते गये और फिर भी ये कुल के कुल भगवद्गीता में उपलब्ध होते हैं। भगवद्गीता में जो प्रतिभा, जो प्रज्ञा और जो प्रेम बिलकुल एकरूप हुआ दिखता है, वह इस ग्रन्थ को शायद दुनिया के कुल साहित्य में अद्वितीय स्थान देता है। और विवेकानन्द भगवद्गीता के परम उपासक थे। मैं अभी गीता-गौरव अधिक नहीं गाऊँगा। उसके तो दूध पर ही मैं पला हूँ। उसको मैं हमेशा ही याद करता हूँ। आज उसके गौरव-कथन का लोभ मैं अधिक नहीं करूँगा। विवेकानन्द ने भारत को जो दान दिया, उस दान का मैं स्मरण कर रहा हूँ, उनके शतसांवत्सरिक दिन के निमित्त से। इकतीस-बत्तीस साल का युवक, परतंत्र हिन्दुस्थान देश में जन्मा हुआ, एक परकीय भाषा में पारंगत होकर संन्यासी के रूप में शिकागो में विश्वधर्म परिषद् में खड़ा होता है और भारत की तरफ से भारत के वेदान्त की गर्जना सुनाता है। उस घटना से भारत की और हम लोगों की जो इज्जत दुनिया में हुई, उसको वे लोग नहीं भूल सकते, जो इस पारतंत्र्य काल में जीवन्मृतप्राय भारतीय जनता को देख चुके हैं।

विवेकानन्द ने गुरु-सेवा का भी एक आदर्श हमारे सामने रखा है, जो हमारे लिए नया नहीं है। लेकिन इस जमाने के लिए, जब आलोचक तार्किक वृत्ति सब दूर फैली थी और है, यह बहुत जरूरी था। गोविन्दपूज्यपाद और शंकराचार्य, निवृत्तिनाथ और ज्ञानदेव, ऐसी इस जमाने की जोड़ी है—रामकृष्ण और विवेकानन्द। जैसे इधर आसाम में शंकरदेव और माधवदेव एक जोड़ी है, जिनका नाम यहाँ के हर घर में चलता है, वैसे ही यह

आधुनिक जोड़ी है। आजकल जो शिक्षा स्कूल और कालेज में मिलती है, उसमें गुरु-शिष्य सम्बन्ध के लिए लगभग अवकाश ही नहीं रहा है, ऐसा कहना चाहिए। आज का शिक्षक लगभग पुस्तक के स्थान में आ गया है। पुस्तक की मदद मिलती है, वैसे शिक्षक की मदद मिलती है।

गुरु दूसरी ही वस्तु है। वह गुरु-शिष्य की भावना जो प्राचीन गुरुकुलों में थी, अब एक स्मरणीय वस्तु रह गयी है। लेकिन उसका उत्कट स्वरूप रामकृष्ण और विवेकानन्द के अन्योन्य सम्बन्ध में हमको देखने को मिलता है।

विवेकानन्द जाहिर ही प्रचारक थे। जैसे सेण्टपॉल में हमको आवेश दिखता है, वैसे इनमें भी दिखता है। लेकिन इस आवेश के बावजूद जैसे सेण्टपॉल वैसे विवेकानन्द समत्व खोये हुए नहीं थे, अन्तःस्थल में समत्व को रखे हुए थे। एक अद्वैती के लिए इसमें आश्चर्य नहीं, क्योंकि जो समत्व खोता है, वह अद्वैत ही खोता है। लेकिन अद्वैत में आवेश भी आ सकता है, यह उधर सेण्टपॉल ने दिखा दिया, इधर शंकराचार्य ने दिखा दिया और इस जमाने में विवेकानन्द ने दिखा दिया। यह आवेश केवल शब्दावेश नहीं, कोई एकांगी कल्पनावेश नहीं, वह भगवदावेश है। इस आवेश का प्रवेश जिसके जीवन में होता है, उसका कुल जीवन भावना-भावित होता है और उसको कठोर परिश्रम की कोई थकान महसूस नहीं होती। महापुरुष का स्मरण करने में पावन आनन्द मिलता है, लेकिन उसका हृदय में ही समावेश करके यहाँ अधिक विस्तार में नहीं करूँगा।

०

रामतीर्थ पर विवेकानन्द का प्रभाव

पूरन सिंह

(प्रोफेसर तीर्थराम से स्वामी रामतीर्थ बनने की कहानी बडी दिलचस्प है। स्वामी विवेकानन्द के लाहौर-गमन के पीछे प्रो. तीर्थराम का हाथ था। उन्होंने वहाँ पर स्वामीजी के भाषणों का आयोजन कराया था। वे स्वामीजी से मिलकर और उनके भाषणों को सुनकर इतने प्रभावित हुए कि उनका जीवनक्रम ही बदल गया और उन्होंने संन्यास लेना निश्चित किया। उनकी यही गाथा यहाँ पर वर्णित हुई है। यह लेख लेखक के मूल अँगरेजी ग्रन्थ 'The Story of Swami Rama' से लिया गया है। कहते हैं कि स्वामीजी के भाषण से प्रभावित हो प्रो. तीर्थराम ने उन्हें अपनी सोने की घड़ी उपहारस्वरूप भेंट की। स्वामीजी ने उसे प्यार से ग्रहण किया, पर घडी को तीर्थराम की जेब में रखते हुए कहा, "ठीक है, मित्र अब से मैं उसे यहाँ पर, इस जेब में पहनूंगा।"—स०)

मेरी राय में एक प्रमुख कारण जिसने तीर्थराम को संन्यास-धर्म ग्रहण करने की प्रेरणा दी वह था उनकी स्वामी विवेकानन्द से लाहौर में भेंट।

स्वामी विवेकानन्द लाहौर मे पंजाब की जनता के लिए अत्यन्त प्रेरणा के स्रोत थे। उनका दैवी वक्तृत्व, उनका ज्वलन्त त्याग, उनकी शक्ति, उनके व्यक्तित्व का प्रभाव तथा उनकी अपार बुद्धि इन सबने लोगों पर गहरा प्रभाव डाला था। उनका लाहौर में 'वेदान्त' पर व्याख्यान सम्भवत: उनके श्रेष्ठ व्याख्यानों में से एक था। उन्हीं दिनों स्वामी विवेकानन्द गुरु गोविन्द सिह के अमृत उत्सव के मुग्ध दर्शक हुए थे। उन्होंने अपने व्याख्यान में पंजाब के सन्दर्भ में कहा था—'सिह-हृदय गुरु गोविन्द सिह का पंजाब'! स्वामीजी ध्यान सिह की हवेली में ठहराये गये थे और मुझे इस अवसर का स्पष्ट रूप से स्मरण है

कि लाहौर की पगड़ीधारी जनता की बहुत भारी संख्या स्वामीजी को सुनने के लिए उस विराट् हॉल में उपस्थित हुई थी। उस समय मैं पंजाब यूनिवर्सिटी के इंटरमीडियेट कालेज का एक छात्र था। वह दृश्य मेरी स्मृति पर अमिट छाप छोड़ चुका है। हॉल भर चुका था तथा प्रांगण में लोगों की संख्या बढ़ती जा रही थी। स्वामीजी को देखने के लिए उत्सुक लोग एक दूसरे के कन्धों को दबाते हुए हॉल में प्रवेश करने की चेष्टा कर रहे थे। स्वामीजी ने इस उत्साही अनियन्त्रित भीड़ को देखकर घोषणा की कि वे खुले प्रांगण में व्याख्यान देंगे। हवेली का प्रांगण बड़ा था तथा उसमें बीच में एक ऊँचे चबूतरे पर मन्दिरनुमा इमारत थी। स्वामीजी चबूतरे पर खड़े हो गये और उनकी प्राचीन काल के ऋषि की भाँति गैरिक वस्त्रों में आभूषित भव्य अलौकिक देह अपने विशाल स्वप्निल नेत्रों से सारे वातावरण को सम्मोहित करने लगी। उनकी कमर में एक दुपट्टा बँधा हुआ था तथा माथे पर पंजाबियों के ढंग की नारंगी रंग की एक विशाल पगड़ी विराजमान थी। यह वेदान्त का सिंह घण्टों तक गरजता और दहाड़ता रहा तथा सारे पंजाबियों को मन्त्रमुग्ध कर उन्हें अपने मानसिक उत्कर्ष की सुखद ऊँचाइयों तक उठा ले गया।

लाहौर को इस साहसी शक्तिशाली संन्यासी ने जिसने अपनी प्रेरणा परमहंस रामकृष्ण जैसे महान् व्यक्ति से प्राप्त की थी, अभिभूत कर दिया, जैसा कि उसने सुदूर अमेरिका को किया था। कोई भी इस दिव्य पुरुष में अपने सम्मुख प्रेरणा की ज्वाला को जाज्वल्यमान देख सकता था। उन दिनों लाहौर में प्रोफेसर बोस का सर्कस अपना कार्यक्रम दिखा रहा था। स्वामी विवेकानन्द का एक

व्याख्यान 'भक्ति' पर बोस के सर्कस के तम्बू में आयोजित हुआ था।

मैं उस समय स्वामी राम को नहीं जानता था, पर उन्हीं ने इन सारे व्याख्यानों का आयोजन किया था। और उनका यह मत था कि स्वामी विवेकानन्द का वेदान्त पर व्याख्यान अद्वितीय था, क्योंकि वह उनका अपना विषय था। स्वामी राम ने मुझसे कहा था, "बोस के सर्कस से ध्यान सिंह की हवेली को वापस लौटते समय मैंने स्वामीजी से कहा था कि भक्ति के व्याख्यान में वे अपने सर्वोत्कृष्ट रूप में नहीं थे। इसके पश्चात् ही उनके वेदान्त पर भाषण की उद्घोषणा की गयी।" इसमें सन्देह नहीं कि स्वामी विवेकानन्द के इस आगमन ने युवा स्वामी राम के भीतर संन्यास-जीवन व्यतीत करने तथा विवेकानन्द के समान वेदान्त का प्रचार करते हुए विश्व-भ्रमण करने की सुप्त आकांक्षाओं को दृढ़ीभूत किया था। स्वामी विवेकानन्द ने व्यावहारिक दृष्टिकोण से वेदान्त को पहले ही परिभाषित किया था और जिस प्रकार आधुनिक शिक्षित भारत ने पाश्चात्य देशों के सम्पर्क में आकर कर्तव्य-सिद्धान्त के रूप में भगवद्गीता की महत्ता को पहचाना, उसी प्रकार स्वामी विवेकानन्द ने शंकराचार्य के अद्वैत वेदान्त-दर्शन की भक्ति, कर्म, यहाँ तक कि देशभक्ति तथा मानवतावाद के परिप्रेक्ष्य में व्याख्या प्रस्तुत की। स्वामी विवेकानन्द ही पहले व्यक्ति थे, जिन्होंने वेदान्त का प्रयोग राजनीति में भी किया। और स्वामी विवेकानन्द से भेंट होने के पश्चात् ही स्वामी राम ने अपने मन को भावी जीवन के लिए निश्चित रूप से तैयार किया। वे अद्वैत वेदान्त के जिस व्यापक स्वरूप को अपने भीतर पहले से विकसित कर रहे थे, अब स्वामी

विवेकानन्द के रूप में उन्हें उसके आदर्श तथा व्याख्याता मिल गये। स्वामी विवेकानन्द के दृष्टान्त ने ही उनकी मूक आत्मानुभूति को वाणी प्रदान की और तब वे हिमालय में भ्रमण करते रहे, और जब नीचे आये तो उन्होंने उसी व्यावहारिक वेदान्त का प्रचार किया, जिसका प्रचार विवेकानन्द ने किया था। पर इसके पीछे उनकी अनुप्राणित उन्मत्तता और दिव्यता अपनी ही थी। स्वामी राम ने स्वामी विवेकानन्द के दर्शाये पथ पर वेदान्त की ताजा तथा और भी विस्तृत व्याख्या प्रस्तुत की। स्वामी राम में भाषा की वह मनोहरता तथा शैली नहीं थी, जो स्वामी विवेकानन्द में थी; उनमें उनके जैसी वाग्मिता, अकुला देनेवाली हँसी और विनोदप्रियता भी नहीं थी और न ही उनके जैसी शारीरिक शक्ति थी, परन्तु स्वामी राम अनुप्राणित उत्फुल्लता म, ललाट पर खेलती अज्ञात की आभा में, गीत के माधुर्य में, भक्तिरूपी नव-यौवना के सलज्ज लावण्य में तथा भावना के तारल्य में जिसने समस्त सांसारिक विचारों को पोंछकर उन्हें बारम्बार समाधि की शान्त दशा में पहुँचाया था, उनसे कहीं आगे थे। स्वामी विवेकानन्द एक दार्शनिक, एक वक्ता तथा सिंहसदृश हृदयवाले एक संन्यासी के रूप में उनसे श्रेष्ट थे, किन्तु स्वामी राम अपनी गहरी अनुप्राणित भावोन्मत्तता के क्षेत्र में आगे थे। उनकी उत्फुल्लता की मधुर कवित्वमय भावना, उनकी सहृदयता, विनम्र स्वभाय तथा अपने वातावरण के साथ एकात्मता की परिपूर्णता के पीछे उनकी यही भावोन्मत्तता विद्यमान थी। दोनों के बीच का बौद्धिक सम्बन्ध इतना महान् था कि हम दोनों को अपने विश्व-भ्रमण में वेदान्त का समान सन्देश देते हुए

पाते हैं; यहाँ तक कि दोनों के अपने देशवासियों के प्रति देशभक्ति तथा राष्ट्र-निर्माण के सम्बन्ध में उपदेश भी एक-जैसे रहे हैं। जैसा कि पूर्व में कहा गया है, स्वामी राम ने स्वामी विवेकानन्द के गैरिक वस्त्र की अग्नि को लाहौर में पकड़ा था तथा दो वर्षों के पश्चात् वे भी संन्यासी बन गये। वे जो कि विवाहित थे, जिनमें एक कवि का समस्त भावातिरेक था, जिनका मन और बुद्धि दोनों भावना की आग में पिघलकर तरल हो गये थे--एक संन्यासी बन गये! जैसा कि अन्यत्र कहा जा चुका है वास्तव में यह कदम किसी बाह्य आवेग के परिणामस्वरूप नहीं लिया गया था, किन्तु यह उनके सहज आन्तरिक--मानसिक अथवा आध्यात्मिक--प्रगति का तत्काल परिणाम था।

○

स्वामी रामतीर्थ का पत्र

(मूल उर्दू पत्र पण्डित दीन दयाल व्याख्यान वाचस्पति को लिखा गया था, जिसका कि यह अनुवाद है। --स०)

एफ. सी. कालेज, लाहौर
१६ नवम्बर १८९७

जय माधव राधारमण की जय!

श्री महाराज जी,

प्रणाम। दस दिन यहाँ रहकर कल स्वामी विवेकानन्दजी (देहरादून के लिए) प्रस्थान कर गये। यहाँ (उनके द्वारा) अँगरेजी में तीन व्याख्यान दिये गये। स्वामीजी सनातन धर्म सभा के अतिथि थे। वे राजा ध्यान सिंह की

हवेली पर ठहरे। उनका पहला और अन्तिम व्याख्यान एक ही स्थान पर हुआ . . . । उनके साथ तीन संन्यासी थे, जो शायद बंगाल से थे और तीन अँगरेज भी, जिनमें एक महिला थीं। इनमें से एक अँगरेज रिपोर्टर था, जो स्वामीजी के भाषणों को लिखता जा रहा था तथा 'ब्रह्मवादिन्' एवं अन्य पत्रों को अपनी रिपोर्टिंग भेज रहा था। ये अँगरेज सज्जन बड़े ही निपुण हैं और स्वामीजी के प्रति उनकी गहरी भक्ति है। अन्य दो यूरोपियन बड़े धनाढ्य हैं और सामान्यत: उन्हीं ने स्वामीजी का सारा व्यय वहन किया। उनका पहला और दूसरा व्याख्यान 'दि ट्रिब्यून' में प्रकाशित हो चुका है। पहले व्याख्यान का विषय था—'हिन्दू धर्म के सामान्य आधार'। . . .

दूसरा व्याख्यान 'भक्ति' पर था। . . .तीसरा 'वेदान्त' पर। तीसरा पूरे ढाई घण्टे चला। श्रोतागण इतने विमुग्ध हो गये और ऐसा वातावरण बन गया कि देश-काल का सारा विचार ही खत्म हो गया था। कई बार ऐसे क्षण आये, जब श्रोताओं को जीवात्मा और परमात्मा के एकत्व की चरम अनुभूति मिल गयी। उस (व्याख्यान) ने अहंकार और अभिमान के मूल पर प्रहार किया। संक्षेप में, वह ऐसी अभूतपूर्व सफलता थी, जैसी कि बिरली ही देखी जाती है। जिन्होंने भी वह व्याख्यान सुना (श्रोता बड़ी भारी संख्या में थे),—चाहे वे अँगरेज हों या ईसाई, मुस्लिम हों या आर्यसमाजी या फिर ब्रह्मसमाजी—सबके लिए वह आँखें खोलनेवाला था। मिशन कालेज के प्रिंसिपल तथा अन्य यूरोपियन प्रोफेसरों को बड़ा लाभ मिला।

यह सही है कि स्वामीजी के सार्वजनिक व्याख्यान हुए, पर उनका ज्ञान उनके व्याख्यानों में उतने सही तौर

पर नहीं झलकता, जितना कि उनके वार्तालापों में। मैंने आर्य समाज और ब्रह्मसमाज के नेताओं के साथ उनके वार्तालापों को सुना। उन्होंने उनके प्रश्नों का उत्तर ऐसे विध्वंसक ढंग से दिया और उनके सिद्धान्तों का चित्र उनके सामने इस ढंग से प्रस्तुत किया कि वे पूरी तरह निष्प्रभ हो सिर लटकाकर लौटे। और कमाल इसमें है कि उन्होंने एक भी शब्द ऐसा नहीं कहा, जो उनकी भावनाओं को ठेस पहुँचाता। बहुत थोड़े समय में उन्होंने उन लोगों से अपने-अपने सिद्धान्त की आधारहीनता को स्वीकार करा लिया। ...स्वामीजी ने अपने सार्वजनिक व्याख्यानों में पुराणों, श्राद्ध और मूर्तिपूजा की अच्छी तरफदारी की। वे एक अच्छे पण्डित भी हैं। उन्हें श्रुतियों का बहुतसा भाग कण्ठस्थ है। उन्होंने शारीरक सूत्रों पर शांकर-भाष्य, श्री-भाष्य और माध्व-भाष्य का गहरा अध्ययन किया है। वे वल्लभाचार्यजी का अणु-भाष्य पढ़नेवाले हैं। उन्हें सांख्य और योग पर अच्छा खासा अधिकार है। भगवद्गीता के तो वे महान् व्याख्याकार हैं। फिर वे अत्यन्त मधुर गाते हैं...।

सेवक,
'राम'

वेदान्तकेशरी स्वामी विवेकानन्द

सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला'

(भारतीय संस्कृति के पुनर्जागरण तथा रामकृष्ण-विवेकानन्द-भावधारा के प्रचारार्थ रामकृष्ण मिशन ने १९२१ ई. से एक हिन्दी मासिक 'समन्वय' का प्रकाशन आरम्भ किया, जिसके सम्पादक स्वामी माधवानन्दजी थे। साहित्यिक जगत् में अज्ञात 'निराला' (१८९९-१९६०) का लेख 'भारत में 'श्रीरामकृष्णावतार' शीर्षक से अगले वर्ष ही इस पत्रिका में प्रकाशित हुआ। कुछ ही काल बाद वे 'समन्वय' के सह-सम्पादक नियुक्त हुए और 'श्रीरामकृष्णवचनामृत' नामक महाग्रन्थ का अनुवाद तथा धारावाहिक प्रकाशन आरम्भ किया। उन्होंने 'समन्वय' के सम्पादकीय विभाग में मुश्किल से एक वर्ष ही पूर्णकालिक तौर पर कार्य किया होगा कि इसी दौरान वे रामकृष्ण मठ के अनेक प्रमुख संन्यासियों, और विशेषकर स्वामी सारदानन्दजी के सम्पर्क में आये। मठ और मिशन के साथ उनका यह सम्बन्ध आजीवन बना रहा। उन्होंने श्रीरामकृष्ण तथा उनके शिष्यों पर अनेक लेख एवं कविताओं की रचना की है तथा स्वामी विवेकानन्द के कई ग्रन्थों एवं अधिकांश कविताओं का अनुवाद किया है।

प्रस्तुत लेख ६० वर्ष पूर्व हमारे 'समन्वय' मासिक के ही फरवरी-मार्च १९२८ ई. के अंक में प्रकाशित हुआ था, और वहीं से 'निराला रचनावली' के छठे खण्ड में संकलित हुआ है।—स०)

स्वामी विवेकानन्दजी भारतवर्ष की उसी तरह की सन्दिग्ध परिस्थिति में आये थे, जिस तरह की परिस्थिति में 'विनाशाय च दुष्कृताम्' तथा 'धर्मसंस्थापनार्थाय' महापुरुष आते हैं। यज्ञों की धार्मिक क्रियाओं में बलि की आड़ में अधर्माचार होते देख जिस तरह भगवान् बुद्ध का आविर्भाव हुआ, फिर बौद्धों के अहिंसा धर्म के लुप्त-प्राय

काल में सिद्धवेदान्त केशरी भगवान् शंकर* की जम्बुकों के विपिन में सिंहगर्जना सुनायी दी, वेदान्त के विजय-घोष से एक बार फिर धर्म-जीवन भारतवर्ष की निष्क्रिय-शिराओं में 'एकमेवाद्वितीयम्' की अखण्ड ज्ञान-ज्योति मृत-संजीवनी संचारित हो गयी। पतझड़ के बाद जाति के जीवन-तरु नवीन वसन्त में नये कोमल किसलयों, पुष्पों और फलों से लदक लहलहाने लगे, उन पर धर्म के सूर्य की सहस्र-सहस्र किरणों की धारा-प्रपात नयी चमक, नया सौन्दर्य, नया जीवन, नया आनन्द, नयी चहल-पहल दिखाई देने लगी, सहस्र-सहस्र शुक-पिक-कपोत-खंजनों का मंजुल मधुर गुंजार और अरण्यचारी कुरंग, शशादि का सानन्द तथा निर्भय नृत्य-विहार होने लगा। तत्पश्चात् इस अखण्ड ज्ञान-राशि को खण्डशः कर सृष्टि में आनन्द प्राप्त करने की जो लिप्सा पैदा हुई——जिसके कारण 'अद्वितीयम्' का अर्थ 'समभ्यधिकरहितम्' किया गया, जिसका अनुवाद हिन्दी में 'जिहि समान अतिसय नहिं कोई' हुआ है, जिसमें जीव-जगत् का अस्तित्व भी माना गया है और साथ ही उस परमात्मा को सबसे बड़ा भी कहा गया है, विशिष्टाद्वैत के आचार्य सशरीर रसभोक्ता भगवान् रामानुजाचार्य का अवतार हुआ, जिनकी वाणी आज तक भारतवर्ष के अधिकांश भाग में फैली हुई है, अधिकांश मनुष्यों को, कुछ निम्न भूमि से उठनेवाली होने के कारण, शब्द-रूप-रस-गन्ध-स्पर्श-लुब्ध मनुष्यों को, विशेष पसन्द आयी। फल यह हुआ कि सस्त्रीक इस एक ही धर्म को श्रेष्ठ मानकर पालन करनेवाले भारतवर्ष के लोग क्रमशः चरित्र-दुर्बल होते गये और अन्त तक धर्म के नाम पर तरह-तरह के पापाचारों

* शंकराचार्य।

को फिर से सिर उठाने का मौका मिला। द्वापर के बाद से ही देश का चारित्रिक पतन होना शुरू हो गया था। इसलिए भगवान् शंकर का धर्म जैसे बौद्धों के विनाश के लिए ही भारत में आया रहा हो—उसे उसी चारित्रिक दुर्बलता के कारण भारत के लोग अधिक काल तक धारण नहीं कर सके। उन्हें श्री रामानुजाचार्य के धर्म की आवश्यकता पड़ी। फिर इस्लाम की जो आग भड़की, देखते-देखते आधा गोलार्ध उस तलवार की चमक से काँप गया, उसके झण्डे के नीचे आ गया। यह काल भारतवर्ष के इतिहास के महान् त्याग—करोड़ों नर-मेधों का काल है, लाखों सीता-सावित्रियों के जौहर का जमाना है, कबीर, सूर, तुलसी, श्री चैतन्य, श्री समर्थ रामदास, गुरु गोविन्द आदि के सुदृढ़ धर्मधारण का युग है, ब्राह्मणों और क्षत्रियों का शिक्षा-रक्षा के लिए हाथियों के पैरों-तले कुचल जाने का युग, दीन इस्लाम के दुतरफा वारों से लड़कर 'स्वधर्मे निधनं श्रेय: परधर्मो भयावह:' के उज्ज्वल उदाहरणों का, अपनी भविष्य-सन्तानों के ज्ञान-नेत्रोन्मीलन का काल। क्रमश: इस्लाम के उस महान् आघात की प्रतिक्रिया शुरू हो गयी—एकच्छत्र मोगल सम्राट् कुछ ही जिलों के मालिक रह गये, बादशाहत नव्वाबों के हाथों बँट गयी। हिन्दू राज्य की तरह यह महान् संगठन भी बिगड़ गया। अँगरेजों, फ्रांसीसियों और डचों की आमद भी हो चुकी थी। इस्लामी सभ्यता के पहले यहूदी और ग्रीक-सभ्यता का मिश्रित प्रवाह भी भारतवर्ष में आ चुका था। मानो संसार की तमाम शक्तियों से मुकाबला करने का एक गहन प्रश्न भारतवर्ष के सामने हल करने के लिए पेश हुआ हो। अँगरेजी बादशाहत के बाद शिक्षा-प्रसार के साथ-ही-साथ,

कालेज के प्रोफेसर ब्राह्मण-अँगरेजों की शिक्षा और पादरियों के धर्म-प्रचार के अनुसार शिक्षित युवकों की विचारधारा ने पलटा खाया। पहले की तरह यह तलवार की लड़ाई नहीं रही। बुद्धि की लड़ाई, विचारों की स्पर्धा होने लगी। शिक्षितों में घोर नास्तिकता का प्रसार हो चला। लोग धर्म छोड़ने लगे। शिक्षा की विस्तृति अंगरेजों की तरफ से जिस तरह स्वच्छन्द और उदार थी, हिन्दुओं में जाति-जन्य अनुदारता और संकीर्णता भी उसी तरह प्रवल हो रही थी। पण्डितों के शास्त्र-ज्ञान के साथ अँगरेजीदाँ युवकों का विरोधी तर्क जोर पकड़ता जा रहा था, शिक्षा की नवीन धारा प्राचीन शिक्षा के प्रतिकूल बह चली थी, पाण्डित्य का अहंकार क्रमशः अन्धकार फैलाता जा रहा था। ऐसे समय भगवान् श्रीरामकृष्ण अपनी अतिमानवीय साधनाओं द्वारा अनेक पन्थों से चलकर सिद्ध हो चुके थे और अपने प्रिय शिष्य नरेन्द्र (स्वामी विवेकानन्द) की प्रतीक्षा में बैठे हुए, कभी रो-रोकर एकान्त में उच्च स्वर से पुकारते, कभी माता जगद्धात्री से तकाजे के तौर पर कहते, "माता, अभी भी तो वह न आया।" उस समय नरेन्द्र का विद्यार्थी जीवन था। वह संसार-विजयी महावीर अपनी किशोर-कल्पनाओं में भूला हुआ, रह-रहकर आग की लपट की तरह अपने मार्जित संस्कारों से जल उठता था।

भगवान् शंकर की जीवन-घटनाओं से स्वामी विवेकानन्दजी की जीवन-घटनाओं का बहुत कुछ साम्य मिलता है। नरेन्द्रनाथ भी शिव के अंश से एक बृहत् कार्य के सम्पादन के लिए आये थे। १२ जनवरी १८६३ ई. को उनकी माता श्री भुवनेश्वरीदेवी को स्वप्न में शिव की ऐसी ही आज्ञा मिली थी। नरेन्द्रनाथ के पिता विश्वनाथ दत्त

महाशय कलकत्ते के शिमला मुहल्ले के रहनेवाले एक नामी वकील थे। इनका आलीशान मकान इस मुहल्ले में अब भी मौजूद है। ये जिस तरह पैदा करते थे, उसी तरह शाहखर्च भी थे। इसलिए हमेशा ले-देकर बराबर रहते थे। इनका देहान्त होने पर युवक नरेन्द्रनाथ पर खर्च की जबरदस्त चिन्ता आ पड़ी थी और उस समय इनको दुनिया के भयानक भँवर में पड़ जाना पड़ा था। तब तक ये श्रीरामकृष्ण से मिल चुके थे और इनकी हालत देखकर श्रीरामकृष्ण को भी चिन्ता हो गयी थी कि कहीं ऐसा न हो कि महामाया इन्हें भुला दें, तो संसार का एक महान् कार्य रुका रह जाय। इस विचार से ये श्रीकाली माता से इनके अर्थ-कष्ट की निवृत्ति के लिए प्रार्थना किया करते थे। एक बार इन्होंने कहा भी था—माता कहती है है कि मोटा वस्त्र और भोजन मिलता रहेगा। इससे ज्यादा माता की राय नहीं होती। उधर नरेन्द्रनाथ की और हालत थी। धर्म-दर्शन आदि की चर्चा में भूले हुए थे, बल्कि नरेन्द्रनाथ-जैसे कट्टर तार्किक को चिढ़-सी हो रही थी। एक बार इन्होंने श्रीरामकृष्ण से कहा भी था कि अब मैं नास्तिक-दर्शन पढ़ रहा हूँ। श्रीरामकृष्ण ने उसी तरह शान्त स्वर में उत्तर दिया—नास्तिक-दर्शन से भी वे मिलते हैं। संसार का जो कुछ थोड़ा-सा भोग था, उसे समाप्त कर उन्हें श्री गुरु की ही शरण में जाना पड़ा, जिस बात की अग्र-सूचना परमहंस देव कितनी ही बार दे चुके थे। श्रीरामकृष्ण कह चुके थे कि इसके द्वारा कभी योषित-संग न होगा। स्वामीजी आजीवन तपस्वी, कुमार-ब्रह्मचारी ही रहे।

नरेन्द्रनाथ के भविष्य-चिह्न उनकी बाल-क्रीड़ाओं में

जगह-जगह जाहिर होते हैं। एक बार किसी शरारत की वजह से सजा की हालत में थे। एक कोठरी में, जो सदर दरवाजे की तरफ थी, बन्द कर दिये गये थे। उसी वक्त एक भिक्षु आया, इन्हें देखकर कपड़ा माँग बैठा, इन्होंने तुरन्त एक धोती दे दी।

भाई, बहन या घर के और किसी से तकरार होती, तो आप झट नाबदान की मोरी के पास खड़े हो जाते, प्रतिपक्षी को देख तरह-तरह के मुँह बनाते और उसे बढ़ते देखकर कीच उछालने को तैयार हो जाते, इतने से उसका हौसला पस्त हो जाता, आप विजय-गर्व से फूलकर टहलने लगते।

इनके पिता के बहुत-से मुवक्किल थे। उनमें मुसलमान भी थे। हर जाति का अलग-अलग हुक्का टँगा रहता था। मुसलमानों की फर्शी थी। इन्हें अक्सर खँबीरा पीने के लिए दिया जाता था। इसकी खुशबू बड़ी विचित्र होती थी। पंचवर्षीय बालक नरेन्द्रनाथ का हुक्का पीने के लिए जी ललचता था। पर साथ ही उन्होंने सुन रखा था कि जो मुसलमानों का जूठा खा लेते हैं, उनके सिर पर आसमान टूट पड़ता है। एक दिन इन्होंने सोचा, जरा देखना है कि कैसे आसमान टूटता है। कमरे में कोई न था। एक मुसलमान हाल ही में हुक्का पीकर बाहर गया था और लोग इधर-उधर चले गये थे। मौका देखकर आपने आजमाइश की——पीने लगे। कड़ियों की तरफ देखते जाते थे कि कहीं कोई टूटती तो नहीं। एकाएक उनके पिताजी आ गये। वे उदार और काफी समझदार थे, बालक नरेन्द्र पर बेबुनियादी शासन या दबाव डालना उन्होंने उचित नहीं समझा।

एक बार कलकत्ते में लड़ाई का जहाज आया। नरेन्द्रनाथ को भी देखने की इच्छा हुई और कई लड़के इनके साथी थे। पर नियम यह था कि पहले मंजूरी लेनी पड़ती थी, तब जहाज पर चढ़ने दिया जाता था। इसके लिए एक आफिस भी खोल दिया गया था। बालक नरेन्द्रनाथ अपनी अर्जी लेकर पहुँचे, पर दरवाजे पर ही रोक दिये गये, दरबान ने इनकी थोड़ी-सी उम्र——नन्हा-सा शरीर देखकर बहुत चिढ़ाया, बहुत मुँह बनाया; कहा, "लो, आप भी चले हैं साहब से मंजूरी लेने, आप भी लड़ाई का जहाज देखेंगे, अपनी सूरत नहीं देखते।" उसने उन्हें न जाने दिया। नरेन्द्रनाथ भी झेंप जानेवाले लड़के न थे। जब सीधे सीढ़ियों न जाने पाये, तब उस इमारत की एक बगल में जाकर पानीवाला नल जो ऊपर से जमीन तक लगा रहता है, पकड़कर अर्जी को धोती की मुर्री में खोंसकर दुतल्ले पर चढ़ गये और सबसे पहले ही साहब के सामने पेश हो गये। इन्हें देखकर साहब बड़ा खुश हुआ। इनसे कुछ सवाल किये, जवाब भी ये तड़ातड़ देते गये; इनकी उस टूटी-फूटी अँगरेजी से साहब बड़ा प्रसन्न हुआ और मंजूरी दे दी। अर्जी पर साहब के दस्तखत हो जाने पर ये बड़े गर्व से फिर सीढ़ियों से उतरे। इन्हें देखकर दरबान दंग हो गया। ये भी साहब के दस्तखत दरबान की नजर करते हुए कुछ कदम वहाँ के बड़े गर्व से चले और फिर अपने तमाम साथियों को लाकर लड़ाई का जहाज दिखाया।

इस तरह की साहसिकता के कार्यों से इनका तमाम बचपन भरा हुआ है। जब कालेज में पढ़ते थे, तब इनके किसी प्रोफेसर ने कहा था, 'नरेन्द्रनाथ अपने जीवन में कोई जबरदस्त निशान छोड़ जावेगा।' इसी तरह जब पिता का

देहान्त हो जाने पर गृहस्थी के संचालन के लिए इन्हें अदालत जाना पड़ा था. (उस समय ये बी. ए. हो चुके थे) इनकी बहस देख-सुनकर हाकिम ने कहा था, 'तुम बहुत अच्छे वकील होगे।'

श्रीरामकृष्ण तो इन्हें देखते ही पहचान गये थे कि साक्षात् शिव उनके महान् कार्य के संचालन के लिए आये हुए हैं। इन्हें देखते ही उन्होंने कहा था, 'बेटा, संसारियों से बातचीत करते-करते मेरे ओठों पर फफोले पड़ गये--तू अब तक कहाँ रहा?' नरेन्द्रनाथ पर उस समय भौतिक शिक्षा का पूरा प्रभाव था, उन्होंने सोचा साधु उन पर कोई जादू (Hypnotism) कर रहा है। इस तरह दो-तीन बार ख्याल करके वे श्रीरामकृष्ण के पास गये और हर दफा उन्हें पराजित होना पड़ा। एक बार तो उन्हें श्रीरामकृष्ण के स्पर्श से ही समाधि हो गयी थी, इन्हें उसकी पहली हालत में मालूम हुआ कि घर-द्वार, बाग-बगीचा सब घूम रहे हैं; इन्हें डर लगा, ये चिल्लाये, "अजी मेरे माँ है, भाई-बहन हैं।" श्रीरामकृष्ण ने हँसते हुए कहा था, "अच्छा अभी नहीं, फिर होगा।" श्रीरामकृष्ण अपने समय के कलकत्ते के बड़े-से-बड़े आदमियों से मिल चुके थे, वे अपनी शक्ति तजबीज चुके थे। वे अक्सर कहा करते, "नरेन्द्र से बड़े लक्षणोंवाला आदमी नहीं मिला। नरेन्द्र सच्चिदानन्द की सतहवाला है, मेरा ससुरघर है। केशव* की रोशनी दीये की रोशनी है और नरेन्द्र चमकता हुआ सूरज। यह चाहेगा तो संसार हिला देगा।"

गुरु-शिष्य के अद्भुत आकर्षण से श्रीरामकृष्ण के अन्तिम दिनों में नरेन्द्रनाथ में विचित्र भावनाएँ होने लगीं।

---

* ब्राह्मसमाज के अग्रणी नेता केशव चन्द्र सेन।

कुछ अच्छा ही न लगता, उनके जैसे विशाल पाठक के दिल में पुस्तकों से उच्चाटन पैदा हो गया । एक खिंचाव अनुभव करने लगे, जो उन्हें उनके गुरु के पास चलने के लिए विवश कर रहा था । इन दिनों नरेन्द्रनाथ की एक अजीब हालत थी । वे किसी चीज पर विशेष विश्वास कुछ न करते थे । किसी सम्प्रदाय की बला इनमें थी ही नहीं । इसलिए इधर कुछ दिनों से ब्राह्मसमाज में नाम लिखा लिया था, वहीं शान्ति पाने के विचार से ब्रह्मविषयक गीत आदि गाया करते थे। एक बार नाव पर महर्षि देवेन्द्रनाथ के कुछ आदमियों के साथ ये भी गये हुए थे । यह जिस समय का जिक्र है, उस समय महर्षि उस पटी नाव के भीतर ध्यान कर रहे थे । एकाएक नरेन्द्रनाथ के दिल में उच्चाटन का भाव आया । इन्होंने सोचा––'ये लोग जो इस तरह आँख-नाक मूँदकर बैठते हैं, ऐसा क्यों ?––क्या वास्तव में इन्हें ईश्वर मिले हैं ? फिर मुझे क्यों ईश्वर के दर्शन नहीं होते ?' यह सब सोच ही रहे थे कि एकाएक दिल में जोश आया, ये छत से उतरकर नाव के भीतर चले गये और महर्षि से पूछा, "महाशय, क्या आपने ईश्वर को देखा है ?" महर्षि ने कहा, "वत्स, तुम्हारी आँखें ऋषियों की-सी हैं ।"

नरेन्द्रनाथ निराश हो गये । उनके सवाल का यह जवाब न था । यही सवाल उन्होंने श्रीरामकृष्ण से भी किया था । पर वहाँ उन्हें बड़ा ही गम्भीर उत्तर मिला था । श्रीरामकृष्ण की युक्ति थी, 'हाँ, हमने ईश्वर को देखा है और तुम देखना चाहो तो तुम्हें भी दिखाया जा सकता है ।'

श्रीरामकृष्ण के अन्तिम दिनों में नरेन्द्रनाथ ने घर रहना एक तरह से छोड़ ही दिया था । गुरु-शक्ति का पूरा प्रभाव उन पर पड़ चुका था । तब साधना में भी

नरेन्द्रनाथ बहुत आगे बढ़ गये थे। इन्होंने श्रीरामकृष्ण की बीमारी की हालत में उनसे पूछा, "क्या इच्छा करने से शरीर रह नहीं सकता?" श्रीरामकृष्ण ने कहा, 'हाँ, रह सकता है।" नरेन्द्रनाथ—"तो कम-से-कम हम लोगों के लिए आप शरीर की रक्षा जरूर कीजिए।" श्रीरामकृष्ण ने उत्तर दिया, "जो शरीर श्रीभगवान् को दे डाला है, अब किस तरह वह शरीर उनसे माँग लें?" श्रीरामकृष्ण के शरीर-वियोग के समय उनके जो सत्रह नवयुवक शिष्य थे, उनमें पर्याप्त शक्ति-संचार हो गया था। इनमें नरेन्द्र-नाथ को ही श्रीरामकृष्ण प्रमुख कर गये थे। उन्होंने किसी को संन्यास की दीक्षा नहीं दी थी। पीछे इन नवयुवक संसार-त्यागी गुरु-भ्राताओं ने संन्यास की आप-ही-आप दीक्षा ले ली।

इसके बाद वराहनगर और फिर आलमबाजार में मठ की स्थापना कर संन्यास में दीक्षित त्यागी नवयुवक देश और संसार की कल्याण-कामना का अमोघ ईश्वरीय कवच धारण करनेवाले, आध्यात्मिक-शक्ति से एक-एक महावीर प्रगाढ़ तपस्या में निविष्टचित्त हुए। कभी साधारण भोजन श्री गुरुजी महाराज को अर्पण कर पा लेते, कभी केवल चना-चबेना—गंगाजल का भरोसा रहता! जहाँ लोक-लोचनों और जड़ मानवीय बुद्धि की पहुँच नहीं, वहाँ उस अखिल विश्वधात्री, उस भुवन-मन-मोहिनी महामाया की कौन-सी इच्छा छिपी हुई थी, वह कौन कह सकता है? जो बहिर्दृष्टि से बहुत ही साधारण मालूम देता है, उसकी महत्ता अन्तर्दृष्टि से कितनी विशाल और अद्भुत फल-दायिनी है, यह कौन कह सकता है? स्वामीजी की साधना की अभिवृद्धि के साथ-ही-साथ देश-पर्यटन और एकान्तवास

की इच्छा भी बलवती हो उठी थी। वे हिन्दुस्तान के भ्रमण का इरादा कर निकल पड़े। इन्हीं दिनों गाजीपुर में रहते समय इन्हें एक अपूर्व दर्शन हुआ। गाजीपुर में गंगा-तट पर पवहारी बाबा नाम के एक अद्भुत राजयोगी रहते थे। स्वामीजी इनकी तपस्या पर मुग्ध हो गये। एक किताब ही आपने इनके नाम से अलग लिखी है। स्वामीजी चाहते थे कि पवहारी बाबा से हठयोग की शिक्षा ग्रहण करें। उस समय इन्हें मालूम न था कि श्रीरामकृष्ण कितनी बड़ी चीज—असली हीरा—इन्हें दे गये हैं। वह essence, जिसकी कितनी ही जगह अपने बाद के जीवन में स्वामीजी ने आवृत्ति की है, जिसकी सत्ता को छोड़कर किसी दूसरी सत्ता को स्वीकार ही नहीं किया। इस दीक्षा-ग्रहण की घटना में स्वामीजी के उदार हृदय का ही चित्र खींचा गया गया है। जिस दिन स्वामीजी दीक्षा लेनेवाले थे, उसकी पहली रात को स्वप्न देखते हैं कि श्रीरामकृष्ण चारपाई की बगल में खड़े हुए हैं, आँखें छलछलायी हुई हैं। सुबह स्वामीजी का इरादा पलट गया। पर साथ ही वे सोचने लगे, मुमकिन है, यह मेरे पहले के संस्कार हों. जो श्रीरामकृष्ण के साथ रहने के कारण तैयार हुए हों, निस्सन्देह यह कमजोरी है। ओह ! वह कितना दृढ़ वेदान्तनिष्ठ मानव-मन था, जिसने अपनी सत्ता पर जोर देकर गुरु-संस्कारों पर भी सन्देह किया। यह सन्देह स्वामीजी के अन्दर आते उनका निश्चय फिर बदल गया—वे फिर दीक्षा लेने के लिए दृढ़ हो गये। पर गजब ! उस रात को भी वही दृश्य ! इतना गुरु-भाव जिसे उनका मानवीय मन परास्त नहीं कर सका। इस तरह की लड़ाई कई दिनों तक चली। आखिर श्रीरामकृष्ण ने समझा दिया कि हठयोग से बहुत

बड़ा लाभ नहीं—शरीर हजार वर्ष भी जिया तो क्या ? बार-बार शरीर की ओर मन दोगे श्रीसच्चिदानन्द को छोड़कर ? बात स्वामीजी के दिल में बैठ गयी। फिर उन्होंने देखा, पवहारी बाबा की कन्दरा में श्रीरामकृष्ण की तस्वीर टँगी हुई है, वे उसकी अर्चना करते हैं। इस घटना का उल्लेख 'गाइ गीत शोनाते तोमाय' नाम की कविता में इस तरह किया है :

छेले खेला करि तव सने
कभु क्रोध करि तव परे
जेते चाइ दूरे पलाइये;
शियरे दाँड़ाइ तुमि रेते,
निर्वाक आनन,
छल-छल आँखी,
चाहो मम मुख पाने।
अमनि जे फिरि,
तव पाये धरि,
किन्तु क्षमा नहि माँगी।
तुमि नाहीं करो रोष।
पुत्र तव,
अन्य के सहिबे प्रगल्भता ?
प्रभु तुमि,
प्राण सखा तुमि मोर।
कभू देखी,
आमि तुमि, तुमि आमि।
वाणी तुमि वीणापाणि कण्ठे मोर,
तरंगे तोमार भेसे जाय नरनारी।

(तुम्हारे साथ बाल-क्रीड़ाएँ करता हूँ, कभी तुम पर

क्रोध कर दूर भाग जाना चाहता हूँ, लेकिन तुम सिरहाने खड़े हुए निर्वाक् आनन, छलछलायी आँखों से, मेरे मुँह की ओर देखते रहते हो। तत्काल लौटता हूँ, तुम्हारे पैरों पड़ता हूँ, परन्तु क्षमा नहीं माँगता। तुम रोष नहीं करते। तुम्हारा पुत्र हूँ, दूसरा कौन यह प्रगल्भता सहेगा; तुम प्रभु हो, मेरे प्राण-सखा हो। कभी देखता हूँ, तुम मैं हो मैं तुम हूँ। तुम वाणी हो, मेरे कण्ठ में वीणापाणि की तरह। तुम्हारी तरंगों में नर-नारी बह जाते हैं।)

एक बार ये बम्बई प्रान्त में रेल पर थे दूसरे दर्जे में। उसी में लोकमान्य तिलक और उनके कुछ मित्र भी जा रहे थे। इन्हें देखकर लोकमान्य के मित्र अँगरेजी में बात-चीत करने लगे कि इसी तरह देश जहन्नुम जा रहा है—जिसको देखिए, भगवा रँगाये साधु बना घूमता है। इसका कुछ विरोध किये बिना बातचीत का तार वहीं टूट जाता। लोकमान्य ने संन्यासियों का पक्ष ग्रहण किया। अवश्य उस समय किसी को नहीं मालूम था कि यह संन्यासी भी अँगरेजी जानता है। कुछ देर तक इसी तरह वाद-विवाद चलता रहा। इसके बाद मौका देखकर स्वामी विवेकानन्दजी को भी कुछ बोलना पड़ा। वह धाराप्रवाह अँगरेजी, उस महान् वाग्मी की अँगरेजी जिसके मुकाबले का वक्ता शायद ही दुनिया ने दूसरा पैदा किया हो—लोग मन्त्रमुग्ध-से हो गये। बड़े शर्माये। लोकमान्य ने स्वामीजी को अपने मकान में निमन्त्रित किया।

हिमालय-प्रदेश, उत्तर-पश्चिम, राजपूताना, अलवर, खेतड़ी आदि रजवाड़ों में घूमकर स्वामीजी क्रमशः दक्षिण की ओर बढ़ने लगे। इस समय इनके जिन गुरुभाइयों से इनकी मुलाकात हुई थी, वे लोग बतलाते हैं कि इनके

मुखमण्डल पर तपस्या की अद्भुत ज्योति आ गयी थी, कान्ति बड़ी ही दिव्य हो गयी थी। इस समय अमेरिका में जो सर्व-धर्म-सम्मेलन होनेवाला था, उसकी खबर स्वामीजी को रजवाड़ों में रहते समय लग चुकी थी और कुछ राज-कर्मचारियों के कहने से इनकी इच्छा भी वहाँ जाने की हो रही थी, पर साधन नहीं मिल रहा था और ये अपने विचारानुकूल वायुमण्डल से ही साधनों की आशा रखे हुए थे। इनकी यह इच्छा मद्रास के कुछ यथार्थ उन्नतिकामी नवयुवक विद्यार्थियों और मित्रों से पूरी हुई।

घूमते-फिरते हुए स्वामीजी मद्रास पहुँचे और उन्हें सहायता का क्षेत्र मिला। उस समय धर्म-महासभा के बहुत ज्यादा दिन नहीं रह गये थे। स्वामीजी को वहाँ समय से पहले ही जाना था। कारण निमन्त्रण था ही नहीं। कुछ पहले से जाने पर ही वहाँ वे अपने लिए जगह कर सकते थे। ऐसा ही हुआ। बम्बई से जहाज द्वारा जापान की तरफ से होकर स्वामीजी अमेरिका रवाना हो गये। किताबों द्वारा पहले से सब कुछ समझे हुए रहने पर भी अँगरेजी सभ्यता का प्रत्यक्ष व्यावहारिक ज्ञान इन्हें नहीं था, इसलिए बहुत जगह इन्हें धोखा खाना पड़ा, पर सँभलते गये। महा-सभा के पहिले अमेरिका में इनके कई भाषण हुए जिनसे इनकी ख्याति काफी हो गयी। एक बार प्रोफेसर राइट साहब ने महासभा के निर्वाचन कमेटी के एक प्रमुख को इनका परिचय-पत्र लिखते हुए लिखा था—यह मनुष्य हमारे विश्वविद्यालय के सम्मिलित सब प्रोफेसरों की तुलना में भी अधिक विद्वान् है। स्वामीजी इनसे मिलने गये कि महासभा में इन्हें भी स्थान मिले, बोलने का मौका दिया जाय। पर वह परिचय-पत्र कहीं खो गया। भूख के मारे

परेशान होकर भीख माँगने लगे, पर जहाँ कहीं खड़े हुए, दरबानों ने हटा दिया। दूर रास्ते पर जाकर शिथिल हो गये। एकाएक देखते हैं कि एक महिला बड़े चाव से इनकी तरफ बढ़ रही है। इस महिला-रत्न की दृष्टि महल के ऊपर से दूर खड़े स्वामीजी पर पड़ी थी। डब्ल्यू. हेल महाशया एक करोड़पति अमेरिकन की पत्नी थीं। वह स्वामीजी को अपने महल ले गयीं और वहाँ उन्होंने स्वामी-जी का खूब आदर-सत्कार किया। फिर उनकी कृपा से महासभा-प्रवेश की कुल कार्यवाही ठीक हो गयी।

शिकागो शहर में १८९३ ई., ११ वीं सितम्बर को महासभा बैठी। उसमें स्वामीजी की कितनी बड़ी विजय हुई, यह प्रसंग विश्व-विश्रुत है। कहते हैं, पहले ईसाई-धर्म की प्रतिष्ठा बढ़ाना ही इस महासभा के अधिवेशन का उद्देश्य था। परन्तु इनकी वक्तृता से वह मतलब बदल गया। जनता पर इनकी वक्तृताओं का इतना बड़ा असर पड़ा कि दूसरे किसी वक्ता की वहाँ जमायी न जमी। दूसरे लोग बोलते तो श्रोता स्त्री-पुरुषों की मण्डली दिल-बहलाव करती, गपशप लड़ाती, दिल्लगी-मजाक में समय बिता देती। दर्शकों को रखने के विचार से प्रेसीडेण्ट को कहना पड़ता कि पीछे से स्वामी विवेकानन्द का एक भाषण होगा। उस थोड़ी देर के आनन्द के लिए श्रोता धैर्यपूर्वक बैठे रहते। वहाँ वेदान्तवेद्य अपौरुषेय ज्ञानराशि, पुनर्जन्म आदि सनातन धर्म के भावों के प्रतिपादन के अतिरिक्त भारत का दारिद्रय, उसे रोटी मिलनी चाहिए—धर्म नहीं आदि विषयों को आपने बड़ी खूबी से निबाहा। ईसाई धर्म की जो शाखाएँ यहाँ खुली हुई हैं, इन बुत-परस्त हिन्दुओं के उद्धार के लिए, इससे उनके धर्म-प्रचारकों की ही रोटियों का सवाल हल

होता है, न कि हिन्दुस्तानियों के धर्म का सवाल। इस तरह मिशनरियों की पोल खोली।

अमेरिका में स्वामीजी के विरोधियों की संख्या भी काफी थी। उन लोगों ने स्वामीजी को नीचा दिखाने की कोई तरकीब उठा नहीं रखी। हर तरह से आजमाया। एक बार तो इनके वासस्थान में, जहाँ ये सोते थे, रूपरंग और यौवन में अप्सराओं को भी परास्त करनेवाली युवतियाँ भेजी गयीं, पर आजीवन-कुमार इन अद्भुत तपस्वी का आसन नहीं डिगा। शरमाकर वे लौट गयीं। जाड़े में जब वस्त्राभाव से इन्हें कष्ट हो रहा था, तब इनके दुश्मनों ने लिखा था, "जाड़े में शैतान जरूर मर जाएगा।" इन दुश्मनों में भारतीय भी थे।

अमेरिका में कई साल प्रचार करने के पश्चात् स्वामीजी योरप होकर देश लौटे। अमेरिका में ही इन्होंने क्लास करना आरम्भ कर दिया था। राजयोग पर व्याख्यान हो चुके थे। जर्मनी, फ्रांस, इटली, इंग्लैण्ड आदि स्थानों में भी आपने भ्रमण किया। इंग्लैण्ड में इन्हें बड़ी कड़ी मिहनत उठानी पड़ी। इन्होंने लिखा है, इंग्लैण्ड के लोग कोई नयी बात बहुत जल्द नहीं ग्रहण करना चाहते। उनकी खोपड़ी कुछ ठोस होती है। पर जब कोई बात इनकी अक्ल में धँस जाती है, तब ये उसे छोड़ते भी नहीं। ज्ञानयोग की वक्तृताएँ इंग्लैण्ड में दी गयीं। वहाँ से आप १८९७ ई., १५ जनवरी को कोलम्बो लौटे। उस समय मिस्टर और मिसेस सेवियर तथा गुडविन साथ थे। 'कोलम्बो से अलमोड़ा'* नाम की पुस्तक में जो उत्तमोत्तम वक्तृताएँ संगृहीत हैं, वे

*'भारत में विवेकानन्द' के नाम से प्रकाशित।

इसी समय दी गयी थीं। संक्षेप-लेखक गुडविन साहब इनके साथ ही थे।

यहाँ आकर इन्होंने श्रीरामकृष्ण संघ को एक नवीन जीवन दिया। गंगा के उस पार हवड़े की तरफ बेलूड़ नामक स्थान में कुछ जमीन खरीदी गयी। वहीं मठ की स्थापना हुई। बिखरी हुई शक्तियों को इन्होंने संगठित रूप दिया। आज भारतवर्ष में जगह-जगह श्रीरामकृष्ण मिशन की शाखाएँ फैल गयी हैं। सत्य सनातन धर्म के उदारभावों के प्रचार के लिए स्वामीजी ने दो संवाद-पत्र निकलवाये, एक बॅगला में 'उद्बोधन' और एक अँगरेजी में 'प्रबुद्ध भारत'। हिन्दी में भी पत्र निकालने का आपका विचार था, पर शायद साधनों के अभाव के कारण आप सफल नहीं हो सके, अब 'समन्वय' द्वारा उस अभाव की पूर्ति हुई है। स्त्रियों की शिक्षा के आप बड़े ही पक्षपाती थे। सिस्टर निवेदिता के प्रति उनका पहला उपदेश था—भारत को प्यार करो। इसी आदेश की पूर्ति के लिए उन्होंने अपना जीवन दे दिया। बागबाजार में बालिकाओं की शिक्षा के लिए एक स्कूल खोला गया, जिसमें ये आजीवन आचार्या रहीं—उस विलास के नन्दन-वन की स्वाधीन कोयल ने भारत को प्यार करने के कारण बागबाजार की गन्दी गलियों में घूमना स्वीकार किया।

भारतीयों के लिए जो लोग स्वामीजी से पूछते थे कि हम क्या त्याग करें, वे हमेशा उत्तर पाते थे, तुम्हारे पास है ही क्या? पश्चिमवालों के लिए कहते थे, उन्होंने भोग की मदिरा खूब पी है, अब उन्हें त्याग की जरूरत है— सच्चे अमृत की। अमेरिका में वेदान्त-प्रचार की भूमि तैयार है, यह समझकर स्वामीजी प्रचार की एक मजबूत

नींव डालने के उद्देश्य से दोबारा अमेरिका गये। अब के स्वामी तुरीयानन्दजी भी उनके साथ थे। फिर स्वामी अभेदानन्दजी गये। अब वहाँ कई केन्द्र खुल गये हैं और रामकृष्ण मिशन के कई साधु इस कार्य का संचालन करते जा रहे हैं। 'समन्वय' के भूतपूर्व सम्पादक स्वामी माधवानन्दजी इस समय वहीं पर हैं।

जिस तरह स्वामीजी भारत के यथार्थ नेता कहे जाते हैं, उसी तरह बंग-भाषा के युग-प्रवर्तक लेखक भी। पीछे की थोड़ी-सी जिन्दगी में अपने साहित्य का बहुत-सा हिस्सा स्वामीजी ने अंगरेजी में ही लिखा है. परन्तु जो कुछ भी थोड़ा-सा बँगला में लिखा है, वह एक युग-प्रवर्तन के लिए काफी है। वह तेज, वह निर्बाह दूसरी जगह देखने को नहीं मिलता। भाषा के द्वारा जाति के जीवन की परीक्षा करना स्वामीजी अच्छी तरह जानते थे। उन्होंने कई जगह इस पर अपने विचार प्रकट किये हैं और अपने 'उद्बोधन' पत्र की भाषा को अपनी ही निरूपित स्टाइल पर रखते भी थे, वही अनुशासन वहाँ अब भी माना जाता है। १९०२ ई., ४ जुलाई को, भारत और संसार की कल्याण-साधना कर वे महापुरुष एक सच्चे भारतीय की सर्वतोमुखी प्रतिभा का परिचय देकर महासमाधि से अपने आचार्य भगवान् श्रीरामकृष्ण देव के पास प्रस्थान कर गये। देश सहस्रमुखी प्रतिभा से जाग उठा।

○

स्वामी विवेकानन्द और भारतीय नारी का आदर्श

प्रव्राजिका आत्मप्राणा

(लेखिका श्री सारदा मठ, दक्षिणेश्वर, कलकत्ता की वरिष्ठ संन्यासिनी हैं और वर्तमान में रामकृष्ण सारदा मिशन, हौज खास, नयी दिल्ली की सचिव हैं। उनके द्वारा अँगरेज़ी में लिखित 'सिस्टर निवेदिता' ग्रन्थ बहुप्रशंसित हुआ है तथा उस पर उन्हें ५,०००) का 'रवीन्द्र मेमोरियल अवार्ड' मिला है। उनका प्रस्तुत लेख रामकृष्ण मिशन इंस्टीट्यूट ऑफ कल्चर, कलकत्ता की 'बुलेटिन' के मार्च १९६३ अंक में छपा था, जहाँ से वह साभार गृहीत और अनूदित हुआ है। अनुवादक स्वामी विदेहात्मानन्द रामकृष्ण मठ, नागपुर के अन्तेवासी हैं। —स०)

श्री सीता के प्रसंग में स्वामी विवेकानन्द ने कहा था—"जिन्होंने अविचलित भाव से ऐसे महादुःख का जीवन व्यतीत किया, वही नित्य साध्वी, सदा शुद्ध-स्वभाव सीता, आदर्श पत्नी सीता, मनुष्य-लोक की आदर्श, देवलोक की भी आदर्श नारी पुण्य-चरित्र सीता सदा हमारी राष्ट्रीय देवी बनी रहेंगी।...सीता का प्रवेश हमारी जाति की अस्थि-मज्जा में हो चुका है; प्रत्येक हिन्दू नर-नारी के रक्त में सीता विराजमान हैं; हम सभी सीता की सन्तान हैं।"[१] भारतीय नारी ने चिरकाल से जिस आदर्श पर चलने का प्रयास किया है, स्वामी विवेकानन्द ने कई बार बड़ी उद्दीप्त भाषा में उसके प्रति अपनी श्रद्धा व्यक्त की है। सच पूछिए तो संन्यास-जीवन के समान ही नारी-जीवन भी बाह्य अभिव्यक्ति की वस्तु नहीं है। इसका मूल लक्ष्य है—

---

१. 'विवेकानन्द साहित्य' (प्रथम सं.), खण्ड ५, पृ. १५०।

आन्तरिक जीवन को समृद्ध बनाना; और भारतीय नारी ने त्याग, पवित्रता, धैर्य, दया, सन्तोष तथा सेवा आदि सद्-गुणों का विकास करके राष्ट्र की सांस्कृतिक उदात्तता और आध्यात्मिकता के उच्च स्तर को अक्षुण्ण बनाये रखा है।

परन्तु वर्तमान युग में भारतीय नारी एक दोराहे पर खड़ी है। उसके सम्मुख आज दो विपरीत आदर्श उपस्थित हैं—एक तो परम्परागत आदर्श और दूसरा आधुनिक नागरिक आदर्श। प्रत्येक सामाजिक विकास की पृष्ठभूमि में स्थित आदर्श में ही उसका सक्रिय तत्त्व निहित है, और प्रत्येक उद्यम उस आदर्श को ही सबल बनाता है। यदि भारतीय नारी को अन्य सभी देश की नारियों के साथ आगे बढ़ना है, एक अभिनव समाज गढ़ने के बारे में विचार करना है, तो उसे यह निर्णय लेना होगा कि इनमें से कौन-सा आदर्श अपनाया जाय।

स्वामी विवेकानन्द की विविध उक्तियाँ इन दो तरह के आदर्शों पर थोड़ा प्रकाश डालती हैं। भारतवर्ष में प्राचीनकाल से परिवार-आदर्श का ही प्राबल्य रहा है। परिवार यद्यपि समाज की लघुतम इकाई है, परन्तु भारतीय जीवन-पद्धति में इसकी भूमिका सबसे महत्त्व-पूर्ण रही है, क्योंकि व्यक्ति के जीवन को गढ़नेवाली सभी मार्गदर्शक एवं नियामक प्रेरणाएँ परिवार से ही आती प्रतीत होती हैं। जाति की शद्धता, विवाह-बन्धन की पवित्रता, मातत्व आदि सभी विचारों का लक्ष्य है परिवार के संघटन को सुरक्षित रखना। इन आदर्शों के क्रियान्वयन में जो महत्त्वपूर्ण भूलें हुई, स्वामीजी ने कभी-कभी उनकी ओर हमारा ध्यान आकृष्ट किया, पर उन आदर्शों को उन्होंने पूरी तौर से उडा नहीं दिया।

उदाहरणार्थ—जाति के पतन एवं नर-नारियों की शारीरिक दुर्बलता के लिए उन्होंने बाल-विवाह प्रथा को दोषी ठहराया, पर साथ ही उन्होंने इस कुप्रथा को भी यह कहकर मान्य किया कि इसने हमारी जाति में पवित्रता का उच्च स्तर बनाये रखा है। उन्होंने हमारे विवाह-व्रत और मातृत्व के आदर्शों की भूरि-भूरि प्रशंसा की और अन्य जातियों एवं राष्ट्रों से अनुरोध किया कि इस क्षेत्र में वे भारत का अनुसरण करें—"मेरे विचार से पूर्ण ब्रह्मचर्य के आदर्श को प्राप्त करने के लिए किसी भी जाति को मातृत्व के प्रति परम आदर की धारणा दृढ़ करनी चाहिए; और वह विवाह को अच्छेद्य एवं पवित्र धर्म-संस्कार मानने से हो सकती है।"[२] और पुनः वे अमेरिकी माताओं से कहते हैं—"माता के रूप में अमेरिकन स्त्री कहाँ है? उस तपस्विनी एवं ओजस्विनी माता का, जिसने हमें जन्म दिया, तुमने क्या सम्मान किया है? जिसने हमें अपने शरीर में नौ मास तक वहन किया, वह माता क्या है? जो हमारे जीवन के लिए यदि प्राणों की आहुति देने की आवश्यकता हो, तो बीस बार भी देने को उद्यत है, वह माता कहाँ है? कहाँ है वह, जिसका प्रेम कभी नहीं मरता—मैं कितना ही दुष्ट और अधम क्यों न हो जाऊँ? . . .हे अमेरिका की स्त्रियो, वह माता कहाँ है? . . .मेरे माता-पिता ने कितने दिनों तक भगवान् से प्रार्थना की थी और व्रत रखा था कि उन्हें एक सन्तान प्राप्त हो। . . .प्रत्येक बच्चे के लिए माता-पिता को प्रार्थना करनी चाहिए। . . . अमेरिका की माताओ! इस पर जरा विचार कीजिए!

२. वही, खण्ड ८, पृष्ठ ३९४।

हृदय के अन्तःस्थल से जरा सोचिए, क्या आप सचमुच नारी होना चाहती हैं? इसमें किसी जाति या किसी देश का प्रश्न नहीं—किसी प्रकार के राष्ट्रीय गौरव के मिथ्या गर्व का स्थान नहीं।...आप सबसे इस रात्रि को मैं एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न पूछना चाहता हूँ। क्या आप अपनी सन्तान की प्राप्ति के लिए ईश्वर से हार्दिक प्रार्थना करती हैं? क्या आप माता होने के लिए कृतज्ञ हैं? क्या आप यह समझती हैं कि मातृत्व प्राप्त करके आप पावित्र्यपूर्ण गौरव को प्राप्त करती हैं? आप अपना हृदय टटोलें और पूछें। यदि नहीं, तो आपका विवाह मिथ्या है, आपका नारीत्व मिथ्या है, और आपकी शिक्षा एक ढकोसला है, और यदि आपके बच्चे प्रार्थना के बिना जन्म लेते हैं, तो वे संसार के लिए अभिशाप सिद्ध होंगे।"[3]

जनसेवा को बढ़ावा देनेवाले नागरिक आदर्शों की महिमा-गान में भी स्वामीजी पीछे नहीं रहे। नागरिक आदर्श में सामुदायिक एकता की तुलना में पारिवारिक स्वार्थ को नजर-अन्दाज किया जाता है। समुदाय के भीतर पुरुष और नारी दोनों को ही व्यष्टि का दर्जा मिलता है और वे नागरिक जीवन के आदर्श को रूपायित करने के लिए सचेत प्रयास करते हैं। सभी प्रकार के सामाजिक सामंजस्य इसी सामुदायिक विकास की ओर केन्द्रित हैं। पारिवारिक जीवन के स्थान पर सामुदायिक कल्याण की प्रतिष्ठा हो जाती है और इसके फलस्वरूप कभी-कभी परिवार का विघटन हो जाता है। प्रत्येक व्यक्ति अपनी-अपनी आर्थिक एवं सामाजिक अवस्था की रक्षा में तत्पर हो जाता है। जब स्वामी

३. वही, खण्ड १, पृ० ३१०-१२।

विवेकानन्द अमेरिका में थे तो वे वहाँ की शिक्षित, साहसी और दयालु महिलाओं को 'पक्षियों के समान स्वाधीन' देखकर दंग रह गये थे। उन लोगों ने बड़े आत्मसम्मान के साथ अपने समुदाय के नागरिक जीवन को कायम रखा था। विस्मय एवं प्रशंसा के साथ उन्होंने अमेरिका से एक मित्र को लिखा—"मैंने जैसी शिष्ट और शिक्षित महिलाएँ यहाँ देखीं, वैसी और कभी कहीं नहीं देखीं। हमारे देश में सुशिक्षित पुरुष हैं, परन्तु अमेरिका जैसी महिलाएँ मुश्किल से कहीं और दिखाई देंगी।...मैंने यहाँ हजारों महिलाएँ देखीं, जिनके हृदय हिम के समान पवित्र और निर्मल हैं। अहा! वे कैसी स्वतंत्र होती हैं! सामाजिक और नागरिक कार्यों का नियन्त्रण करती हैं। पाठशालाएँ और विद्यालय महिलाओं से भरे हैं और हमारे देश में महिलाओं के लिए राह चलना भी निरापद नहीं!" और इसके बाद ही वे लिखते हैं—"यहाँ लोग अपनी स्त्रियों को इसी रूप (शक्ति) में देखते हैं...और इसीलिए ये इतने सुखी, विद्वान्, स्वतन्त्र और उद्योगी हैं। और हम लोग स्त्री-जाति को नीच, अधम, महा हेय एवं अपवित्र कहते हैं। फल हुआ—हम लोग पशु, दास, उद्यमहीन और दरिद्र हो गये।"[४]

इस प्रकार हम देखते हैं कि स्वामीजी ने एक-एक कर दोनों आदर्शों की ही प्रशंसा की है। परन्तु दोनों के प्रति उनकी समालोचना भी उतनी ही कठोर है। भारतीय महिलाओं की हालत के बारे में एक बार उन्होंने कहा था—"अब तक तो उन्होंने केवल असहाय अवस्था में दूसरों पर आश्रित हो जीवन-यापन करना, और

४. वही, खण्ड २, पृ. ३१४-१५।

थोड़ी-सी भी अनिष्ट या संकट की आशंका होने पर आँसू बहाना ही सीखा है।"[५] दूसरी ओर उन्होंने न्यूयार्क में अमेरिकी महिलाओं को सुस्पष्ट कठोरतापूर्वक कहा— "मैं बहुत चाहता हूँ कि हमारी स्त्रियों में तुम्हारी बौद्धिकता होती, परन्तु यदि वह चारित्रिक पवित्रता का मूल्य देकर ही आ सकती हो, तो मैं उसे नहीं चाहूँगा। तुमको जो कुछ आता है, उसके लिए मैं तुम्हारी प्रशंसा करता हूँ, लेकिन जो बुरा है, उसे गुलाबों से ढककर उसे अच्छा कहने का जो यत्न तुम करती हो, उससे मैं नफरत करता हूँ। बौद्धिकता ही परम श्रेय नहीं है। नैतिकता और आध्यात्मिकता के लिए हम प्रयत्न करते हैं। हमारी स्त्रियाँ इतनी बुरी नहीं, परन्तु वे अधिक पवित्र हैं।"[६]

इस प्रकार अपने देश से बिल्कुल ही भिन्न आदर्श पर चलनेवाली महिलाओं के एक वर्ग के सम्पर्क में आने के बाद से इन दोनों आदर्शों तथा दोनों समाजों में महिलाओं की अवस्था का भेद उनके मनश्चक्षु के सामने बारम्बार उदित होने लगा। परवर्ती काल में जब उनके मन में अपने देश की महिलाओं के उत्थान के लिए कार्य करने की तीव्र आकांक्षा हुई, तो स्वाभाविक रूप से ही उनके मन में यह प्रश्न उठा कि भारतीय महिला किस हद तक अपने आदर्शों से समझौता करके अन्यदेशीय आदर्शों को अपना सकती है। इस विषय पर स्वामीजी ने जगत् को जो गहन और सर्वांगीण विचार दिये थे, उन्हें प्रायः सत्तर वर्ष* होने को आये, पर वे अब भी यथावत् प्रेरणास्पद हैं।

५. वही, खण्ड ८, पृ. २७७।
६. वही, खण्ड १०, पृ० २१६।
* अब लगभग पचानवे वर्ष हो गये।

शिक्षा को आध्यात्मिकता से जोड़ना

स्वामी विवेकानन्द कभी भी प्राचीन आदर्शों को तिलांजलि देकर नवीन आदर्शों को अपनाने के पक्ष में नहीं थे। बल्कि इसके विपरीत ही उन्होंने दृढ़तापूर्वक कहा कि हमारे राष्ट्रीय आदर्श जिन ठोस सिद्धान्तों की नींव पर खड़े हैं और प्रथा, परम्परा एवं विधि के द्वारा शताब्दी पर शताब्दी स्वीकृत हुए हैं, उनका कभी त्याग नहीं होना चाहिए। उन्होंने कहा--"यह सच है कि हम लोग इस समय इन भावों को पूर्ण रूप से कार्य में परिणत नहीं कर सकते; यह भी सम्पूर्ण सत्य है कि हम लोगों ने इन सब महान् भावों में से कुछ को हास्यास्पद बना दिया है।...किन्तु व्यावहारिक रूप में दोषों के आ जाने पर भी वह मूलतत्त्व बड़े ही महत्त्व का है, और यदि उसका कार्यान्वित होना सदोष है, यदि इसके लिए कोई खास तरीका नाकामयाब हुआ है, तो उस मूलतत्त्व को लेकर ऐसी चेष्टा करनी चाहिए, जिससे वह अच्छी तरह काम में आ सके। मूलतत्त्व को नष्ट करने की चेष्टा क्यों?...वह सनातन है, वह सदा ही रहेगा, ऐसा पुन: प्रयत्न करो जिससे वह तत्त्व ठीक-ठीक भाव से काम में लाया जा सके।"[७] उनका ऐसा मत था कि यह संशोधित उपयोग दोनों ही आदर्शों के बीच एक महत्त्वपूर्ण सम्मिलन उत्पन्न करेगा। उनके इस विचार को और भी स्पष्ट करते हुए उनकी शिष्या भगिनी निवेदिता ने लिखा है--"वे भविष्य की भारतीय नारी को ध्यान की प्राचीन शक्ति से अलग करके कल्पना तक नहीं कर पाते थे। महिलाएँ आधुनिक

७. वहीं, खण्ड ५, पृ० २९९।

विज्ञान अवश्य सीखें, पर प्राचीन आध्यात्मिकता को त्याग-कर नहीं। उन्होंने स्पष्ट रूप से समझा कि वही शिक्षा आदर्श होगी, जो सम्पूर्ण सामाजिक व्यवस्था के प्रत्यक्ष परिवर्तन को कम से कम प्रभावित करेगी। इसके फलस्वरूप प्रत्येक महिला अतीत भारत की समस्त नारियों की महानता को अपने आपमें पूर्णरूपेण भिदा लेने में समर्थ होगी।"[८]

स्वामी विवेकानन्द जब कभी भारतीय नारी तथा उसकी समस्याओं के बारे में बोलते थे, तब वे एक तीसरे आदर्श के बारे में भी सचेत रहते थे, और वह था आध्यात्मिक आदर्श। भारतीय जीवन, चिन्तन एवं संस्कृति में आध्यात्मिकता इतनी ओतप्रोत है कि आध्या-त्मिक आदर्श को एक अलग आदर्श के रूप में मान्य नहीं किया जा सकता। अतः हम अपने राष्ट्र के सामाजिक-धार्मिक इतिहास में संन्यासी एवं गृही दोनों ही प्रकार की अनेक महान् आध्यात्मिक विभूतियों का उल्लेख पाते हैं।

राष्ट्र की आध्यात्मिकता के इस उच्च स्तर को बनाये रखने में महिलाओं का योगदान पुरुषों के समकक्ष ही रहा है। अतिप्राचीन वैदिक काल से लेकर वर्तमान काल तक महिलाओं ने अपने ढंग से इस आदर्श को जीवन्त रखा है। मैत्रेयी से लेकर श्री सारदा देवी तक यह सांस्कृतिक विरासत पीढ़ी-दर-पीढ़ी हस्तान्तरित होती आयी है। ऋषि याज्ञवल्क्य ने संसार त्यागकर वन में जाने से पूर्व (अपनी पत्नी) मैत्रेयी के जीवन-निर्वाह हेतु अपनी सम्पत्ति का एक अंश उन्हें देने की इच्छा व्यक्त की थी। इस पर मैत्रेयी ने कहा था—"जो सम्पदा मुझे अमतत्व नहीं प्रदान कर सकती, उसे लेकर मैं क्या करूंगी?" इस

८. 'Tho Master as I saw Him', आठवाँ संस्करण, पृ. २८३।

पर याज्ञवल्क्य बड़े प्रसन्न हुए थे और उन्हें आध्यात्मिक ज्ञान प्रदान किया था। श्रीरामकृष्ण ने जब श्री सारदा देवी से पूछा कि क्या तुम पत्नी के रूप में अपने अधिकार का दावा करने आयी हो, तो उन्होंने उत्तर दिया था, "नहीं, मैं तुम्हें संसार में खींचने को नहीं, तुम्हारे धर्मपथ में सहायता करने को आयी हूँ।" उसी समय से वे श्रीरामकृष्ण की प्रमुख शिष्या के रूप में स्वीकृत हुईं।

मानव का वास्तविक स्वरूप दिव्य है और सम्पूर्ण जगत् ब्रह्म की ही अभिव्यक्ति है--वेदान्त की यह अनुभूति ही उपर्युक्त आदर्शवाद की पृष्ठभूमि है। स्वामी विवेकानन्द निर्भीक वेदान्ती थे और उन्होंने महिलाओं की स्वाधीनता एवं अधिकार का खुले तौर पर समर्थन किया, जिससे वेदान्त का यह तत्त्व पूर्ण रूप से व्यवहार में लाया जा सके।

उनका मन इन विचारों से इतना परिपूर्ण रहा करता था कि अपने काल की नारी-समस्याओं पर चर्चा के दौरान वे अचानक ही उच्चतर भाव में आविष्ट होकर कहने लगे--"परब्रह्म तत्त्व में लिगभेद नहीं। हमें 'मैं-तुम' की भूमि में लिगभेद दिखाई देता है।" उन्होंने और भी कहा—"इस देश में पुरुष और स्त्रियों में इतना अन्तर क्यों समझा जाता है. यह समझना कठिन है। वेदान्तशास्त्र में तो कहा है, एक ही चित्-सत्ता सर्वभूत में विद्यमान है।"[१]

इसी कारण उन्होंने महिलाओं के उच्चतर आध्यात्मिक प्रशिक्षण के विरोध में उठायी गयी आपत्तियों को सुनने से इन्कार कर दिया था—"किस शास्त्र में ऐसी बात है कि स्त्रियाँ ज्ञान-भक्ति की अधिकारिणी नहीं

१. 'विवेकानन्द साहित्य', खण्ड ६, पृ० १८५ तथा १८१।

होंगी ? . . .इन सब आदर्श विदुषी स्त्रियों (यथा मैत्रेयी, गार्गी) को जब उस समय अध्यात्म ज्ञान का अधिकार था, तब फिर आज भी स्त्रियों को वह अधिकार क्यों न रहेगा ? एक बार जो हुआ है, वह फिर अवश्य ही हो सकता है। इतिहास की पुनरावृत्ति हुआ करती है।"[१०]

और इसीलिए वे चाहते थे कि हमारे देश की महिलाएँ, श्री सारदा देवी की प्रत्यक्ष प्रेरणा एवं देख-रेख में, त्याग एवं सेवा के राष्ट्रीय आदर्शों के अनुसार जीवन गठन करें।

आधुनिक भारत की महिलाएँ जो प्रगति के नाम पर वस्तुतः अपने रूपान्तरण के पथ पर चल पड़ी हैं, उन्हें चाहिए कि वे प्राचीन आदर्शों के आधार पर ही अपनी उन्नति एवं प्रगति करें और साथ ही नागरिक कार्यों के क्षेत्र में भी अपने प्रभाव का विस्तार करें। इसके फलस्वरूप उनका पारिवारिक जीवन सुखी होगा, नागरिक जीवन सहायक होगा और आध्यात्मिक जीवन समृद्ध होगा। साथ ही स्वामीजी का यह आदेश भी स्मरण रखना होगा—"इस देश की नारियों को ही क्यों, मैं उनसे भी वही बात कहूँगा, जो पुरुषों से कहता हूँ। भारत में विश्वास करो और हमारे भारतीय धर्म में विश्वास करो। शक्तिशाली बनो, आशावान् बनो और संकोच छोड़ो; और याद रखो कि यदि हम बाहर से कोई वस्तु लेते हैं, तो संसार की किसी अन्य जाति की तुलना में हिन्दू के पास उसके बदले में देने को अनन्तगुना अधिक है।"[११]

○

१०. वही, पृ० १८१-२।
११. वही, खण्ड ४, पृ० २६९।

बाल प्रश्न

सुमित्रानन्दन पन्त

(सुविख्यात छायावादी कवि श्री पन्त ने १६-१७ वर्ष की आयु में ही श्रीरामकृष्ण और स्वामी विवेकानन्द के ग्रन्थों का गहन अध्ययन किया था । १९१८ ई. में वे १८ वर्ष की वय में अध्ययनार्थ वाराणसी आये और क्वीन्स कालेज में दाखिल हुए । प्रस्तुत कविता उसी वर्ष रची गयी थी और पहली वार उनके प्रथम काव्य-संग्रह 'वीणा' में संक-लित होकर १९२० ई. में प्रकाशित हुई थी । रामकृष्ण-विवेकानन्द भावधारा का प्रभाव प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से उन पर आजीवन बना रहा । उन्होंने स्वामीजी की कई कविताओं का काव्यानुवाद भी किया है । ––स०)

"मा, अलमोड़ा में आये थे
जब राजर्षि विवेकानन्द,
तब मग में मखमल बिछवाया,
दीपावलि की विपुल अमंद;
बिना पाँवड़े पथ में क्या वे
जननि, नहीं चल सकते हैं ?
दीपावलि क्यों की ? क्या वे मा,
मंद दृष्टि कुछ रखते हैं ?"

"कृष्णे, स्वामीजी तो दुर्गम
मग में चलते हैं निर्भय,
दिव्य दृष्टि हैं, कितने ही पथ
पार कर चुके कंटकमय;
वह मखमल तो भक्ति भाव थे
फैले जनता के मन के,
स्वामीजी तो प्रभावान हैं,
वे प्रदीप थे पूजन के !"

o

महात्मा गाँधी पर स्वामीजी का प्रभाव

संकलनकर्ता—स्वामी विदेहात्मानन्द

१९०१ ई. के दिसम्बर के अन्तिम में कलकत्ते में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस का वार्षिक अधिवेशन प्रारम्भ हुआ। इसमें भाग लेने को देश के कोने-कोने से अनेक नेता, प्रतिनिधि एवं स्वयंसेवक आये हुए थे। इस सम्मेलन में दक्षिण अफ्रीका से मोहनदास कर्मचन्द गाँधी भी पधारे थे। वे भारतीय राजनीतिक गगन के एक उदीयमान नक्षत्र थे और तब तक उन्हें प्रसिद्धि नहीं मिली थी। अधिवेशन की समाप्ति के पश्चात् भी वे प्रायः एक महीना कलकत्ता में ठहरे और अपने इस समय का सदुपयोग उन्होंने नगर के महत्त्वपूर्ण स्थानों के अवलोकन तथा महत्त्वपूर्ण व्यक्तियों से भेंट-मुलाकात करने में किया। वहाँ उन्हें पता चला कि सुप्रसिद्ध देशप्रेमी संन्यासी स्वामी विवेकानन्द ने गंगा के दूसरे तट पर एक मठ की स्थापना की है और वहीं पर वे निवास भी कर रहे हैं। गाँधीजी के मन में उनके दर्शन करने की इच्छा इतनी बलवती हुई कि एक दिन वे इसी उद्देश्य से निकल पड़े। वे अपनी आत्मकथा में लिखते हैं—"अतः मैं अत्यन्त उत्साहपूर्वक अधिकांश या पूरा ही रास्ता पैदल तय करके बेलुड़ मठ पहुँचा। मठ का शान्त परिवेश मुझे बड़ा पसन्द आया। वहाँ मैं यह जानकर बड़ा दुःखी और निराश हुआ कि स्वामीजी का स्वास्थ्य ठीक नहीं, वे इस समय कलकत्ते में हैं, अतः दर्शन पाना सम्भव न होगा।"

गाँधीजी को जनवरी १९०२ में स्वामीजी का दर्शन पाये बिना ही बेलुड़ मठ से वापस लौट आना पड़ा था और इस घटना के पश्चात् छह महीनों के भीतर ही स्वामीजी ने शरीर त्याग दिया, अतः स्वामीजी के साथ गाँधीजी

की प्रत्यक्ष भेंट कभी नहीं हो सकी। परन्तु उन्होंने विवेकानन्द साहित्य का पारायण किया था। स्वामीजी के 'राजयोग' ग्रन्थ पढ़ने का वे अपनी आत्मकथा में उल्लेख करते हैं। स्वामीजी के ग्रन्थों से संकलित एक छोटी-सी 'शिक्षा' नामक पुस्तिका की भूमिका के तौर पर उन्होंने लिखा था--"सच कहिए तो स्वामी विवेकानन्द के लेखों के लिए किसी भूमिका की आवश्यकता नहीं। वे स्वयं ही अपना अदम्य प्रभाव विस्तार करते हैं।"

६ फरवरी १९२१ ई. को बेलुड़ मठ में स्वामी विवेकानन्द का जन्मोत्सव मनाया जा रहा था। उस दिन महात्मा गाँधी अपने कुछ सहयोगियों के साथ अप्रत्याशित रूप से वहाँ आ पहुँचे थे। महात्माजी ने मठ का परिदर्शन किया, मिशन एवं उसकी शाखाओं के बारे में अनेक बातें पूछीं और समवेत लोगों के आग्रह पर स्वामीजी के कमरे के पास के बरामदे से एक छोटा-सा व्याख्यान दिया, जिसका सार-संक्षेप निम्नलिखित है--"मैं यहाँ असहयोग आन्दोलन अथवा चरखे का प्रचार करने नहीं आया हूँ, वरन् स्वामी विवेकानन्द के जन्म-दिवस पर मैं आज उनकी पुण्य-स्मृति में अपनी श्रद्धांजलि अर्पित करने को आया हूँ। मैंने स्वामीजी के ग्रन्थ विशेष यत्नपूर्वक पढ़े हैं और इसके फलस्वरूप भारत के प्रति मेरा प्रेम सहस्रों गुना बढ़ गया है। युवकों से मेरा अनुरोध है कि स्वामी विवेकानन्द जहाँ निवास करते थे और जहाँ उन्होंने देह छोड़ी, वहाँ से आप कुछ भी लिये बगैर खाली हाथ न लौटें।"

महात्मा गाँधी ने स्वामीजी से सीखा था--स्वदेशप्रेम, दलितोद्धार, सर्वधर्मसद्भाव और धर्म के द्वारा जन-

जागरण। गाँधीजी पर इस प्रभाव के विषय में उनके कुछ सहयोगियों तथा सुप्रसिद्ध विचारों के मत यहाँ उद्धृत करना असमीचीन न होगा।

महान् साहित्यकार मोशियो रोमाँ रोलाँ अपने 'विवेकानन्द' ग्रन्थ में स्वामीजी के उत्तराधिकारी के रूप में रामकृष्ण मिशन का वर्णन करने के बाद लिखते हैं—"एक अन्य व्यक्ति ने भी उनके हाथ से गिरती मशाल थामी है : उसने पुकारा है, 'आओ, सब दरिद्र, पददलित, परित्यक्त जन, आओ, हम तुम सब एक हैं', और समाज में अछूतों को उनका अधिकार और स्थान दिलाने के लिए धर्मयुद्ध छेड़ा है—वह है मोहनदास कर्मचन्द गाँधी।"

आचार्य विनोबा ने कहा है—"दरिद्रनारायण शब्द विवेकानन्द की देन है और गाँधीजी ने उसका प्रचार किया।"

काका कालेलकर कहते हैं—"स्वामी विवेकानन्दजी ने नवभारत का—प्रबुद्ध भारत का आरम्भ किया इसलिए मैं उन्हें सच्चा युगपुरुष कहूँगा। हमारे इस युग के तीन महापुरुष हुए। एक कविवर रवीन्द्र नाथ, दूसरे महायोगी अरविन्द और तीसरे कर्मवीर महात्मा गाँधी। इन तीनों के काम, इन तीनों महापुरुषों की वाणी, साहित्य और उनके कार्यप्रवाह पर विचार करके मैं कहता हूँ कि इन तीनों के युग-कार्य में स्वामी विवेकानन्द का हिस्सा बहुत बड़ा था।"

"१४ जून १९५० ई. को न्यूयार्क के रामकृष्ण-विवेकानन्द केन्द्र में आयोजित एक सभा में अमेरिका में तत्कालीन भारतीय राजदूत श्रीमती विजयलक्ष्मी पण्डित ने कहा था—"भारतवर्ष की स्वाधीनता के लिए महात्मा गाँधी ने

जिस आन्दोलन का नेतृत्व किया था, उसके लिए परिवेश का निर्माण करने में सम्भवत: विवेकानन्द का प्रभाव सर्वाधिक शक्तिशाली था ।...विवेकानन्द की निर्भयता और नि:स्वार्थ सेवा की प्रेरणा ही मानो आगे चलकर महात्माजी के सत्याग्रह के प्रयोग में विकसित हुई ।"

प्रो० डी. एस. शर्मा अपने 'Renascent Hinduism' (पुनर्जाग्रत् हिन्दूधर्म) ग्रन्थ में लिखते हैं—"इन सब तथ्यों के आधार पर हम कह सकते हैं कि स्वामी विवेकानन्द के कार्यों का भार गाँधीजी के कन्धों पर आ पड़ा था; क्योंकि हम जानते हैं कि वे महान् देशभक्त संन्यासी किस प्रकार अपने जीवन भर भारतीय जनता की दरिद्रता एवं अज्ञता के निर्मूलन और भारतीय नारी-जाति की मुक्ति का सोत्साह समर्थन करते रहे । गाँधीजी ने मानो स्वामी विवेकानन्द का सामाजिक कार्यक्रम अपना लिया और उसके साथ अपनी बुनियादी शिक्षा, पूर्ण मद्य-निषेध और चरखा आदि तत्त्वों का योग कर दिया था ।"

महात्माजी के अमेरिकन जीवनीकार विसेंट शीन लिखते हैं—"...इसमें कोई सन्देह नहीं कि गाँधीजी के राजनीतिक विचारों के सामाजिक तत्त्व बहुत कुछ, प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से, स्वामीजी के निजी उदाहरण और उपदेशों से लिये गये हैं ।"

महात्मा गाँधी के जीवन तथा कार्य पर युगाचार्य स्वामी विवेकानन्द का प्रभाव एक बड़ा ही महत्त्वपूर्ण तथा गहन शोध का विषय है । अपने इस संक्षिप्त संकलन का हम यहीं समाहार करते हैं ।

○

स्वामी विवेकानन्द का महत्त्व

रवीन्द्र नाथ ठाकुर

यदि आप भारत को समझना चाहते हैं तो विवेकानन्द का अध्ययन कीजिए; उनमें सब कुछ विधेयात्मक है और कुछ भी निषेधात्मक नहीं है।[1]

अर्वाचीन काल में भारतवर्ष में एकमात्र विवेकानन्द ने ही एक ऐसे महान् सन्देश का प्रचार किया, जो किन्हीं विधि-निषेधों में आबद्ध नहीं है।...इस सन्देश ने नवयुवकों के चित्त को पूर्णरूप से जाग्रत कर दिया है। इसीलिए यह सन्देश देश की सेवा के विभिन्न रूपों में तथा विभिन्न प्रकार के त्यागों के माध्यम से फलप्रसू हुआ है। उनके सन्देश ने मानव को श्रद्धा और सम्मान के साथ ही शक्ति एवं उत्साह भी प्रदान किया है।[2]

कुछ ही वर्षों पूर्व बंगाल में जिन महान् आत्मा विवेकानन्द का देहावसान हुआ है, उन्होंने प्राच्य और पाश्चात्य को अपने दाहिने और बायें रखकर स्वयं को बीच में रखा था। भारतवर्ष के इतिहास से पश्चिम को नकारकर भारत को चिरकाल के लिए संकीर्ण प्रथाओं में आबद्ध करके रखना उनके जीवन का उद्देश्य कभी नहीं था। वस्तुत: उनकी प्रतिभा तो ग्रहण करने, समन्वय करने और सृजन करने में थी। उन्होंने उस संचार-व्यवस्था का श्रीगणेश करने में अपना जीवन होम दिया, जिसके माध्यम से भारत की उपलब्धियाँ पश्चिम को दी जा सकें और पाश्चात्य उपलब्धियाँ भारत में स्वीकृत

---

१. रोमां रोलाँ से भेंट के समय रवीन्द्रनाथ ने उनसे यह वाक्य कहा था।

२. 'प्रवासी' (बँगला मासिक), खण्ड २८, पृ. २८५-८६।

हो सकें ।[3]

विवेकानन्द ने कहा है कि प्रत्येक मानव में ब्रह्म की शक्ति विद्यमान है, यह भी कहा है कि दीन-दु:खी लोगों में विद्यमान नारायण हमारी सेवा चाहते हैं । कितना अद्भुत सन्देश है! इस सन्देश ने मनुष्य को उसके स्वार्थबोध की सीमा से बाहर निकालकर उसके आत्मबोध को असीम मुक्ति का पथ दिखाया है। इसमें किसी विशिष्ट आचार का उपदेश नहीं है और न कोई व्यावहारिक संकीर्ण आदेश ही है। छूतवाद का विरोध स्वत: ही आ जाता है—इस कारण नहीं कि इससे राष्ट्रीय स्वाधीनता की प्राप्ति में सुविधा होगी, बल्कि इसलिए कि इससे मानवता का कलंक दूर होगा; क्योंकि अस्पृश्यता हम सबके लिए लज्जा की बात है। और चूँकि विवेकानन्द का यह सन्देश हममें निहित पूर्ण मनुष्यत्व के जागरण हेतु है, इसने हमारे अनेक नवयुवकों को कर्म और त्याग-बलिदान के माध्यम से मुक्ति के विविध पथों पर चलने की प्रेरणा प्रदान की है ।[4]

○

३. 'रवीन्द्र रचनावली' (बँगला), खण्ड १२, बंगीय सं. १३५८, पृ. २६६ ।

४. 'विश्व विवेक' (बँगला ग्रन्थ), द्वि. सं., पृ. १८३-८४।

विवेकानन्द : श्री अरविन्द की दृष्टि में

स्वामी विदेहात्मानन्द

स्वामीजी की प्रथम पाश्चात्य यात्रा एवं प्रचार-कार्य की समाप्ति और इंग्लैण्ड से भारत की ओर उनके प्रस्थान के अवसर पर एक बृहत् विदाई-सभा का आयोजन हुआ था। इस सभा में उनके कई अनुरागी भावाभिभूत होकर मौन रह गये, उनके नेत्र छलछला आये। यह दृश्य देखकर स्वामीजी एक आत्मविस्मृत ऋषि के समान सहसा बोल उठे थे, "यदि आवश्यक हुआ तो मैं अपने इस शरीर को एक जीर्ण वस्त्र की भाँति त्याग दूँगा, पर मैं अपने कार्य को विराम न दूँगा। मैं सर्वत्र सभी को तब तक प्रेरणा देता रहूँगा, जब तक कि सम्पूर्ण जगत् ईश्वर के साथ अपने एकत्व की अनुभूति नहीं कर लेता।" १९०२ ई. में अपने देहत्याग के बाद से अब तक उन्होंने प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप से असंख्य लोगों को प्रेरणा एवं सहायता दी है। अपने तिरोभाव के करीब छः वर्ष बाद स्वामीजी ने कारागार में उपस्थित होकर अपनी 'अशरीरी वाणी' से श्री अरविन्द को आध्यात्मिक जीवन के बारे में कुछ विशेष महत्त्वपूर्ण निर्देश प्रदान किये थे। स्मरणीय है कि श्री अरविन्द ने ४ मई १९०८ ई से प्रायः एक वर्ष का समय एक विचाराधीन बन्दी के रूप में बिताया था। इस काल की अपनी जीवन-घटनाओं का विवरण देते हुए उन्होंने अपने एक पत्र में लिखा है—"यह सत्य है कि जेल में अपने एकान्त-ध्यान के समय एक पखवारे तक प्रतिदिन मैं विवेकानन्द की वाणी सुनता रहा और साथ ही मुझे उनकी उपस्थिति का भी अनुभव होता रहा।...वह वाणी आध्यात्मिक अनुभव के एक विशिष्ट तथा सीमित

परन्तु अतीव महत्त्वपूर्ण विषय पर बोली और उस विषय पर अपना कथन समाप्त होते ही बन्द हो गयी।"

एक अन्य अवसर पर इसी घटना का वर्णन करते हुए उन्होंने कहा था, "मैंने विवेकानन्द की उपस्थिति का बड़ा प्रत्यक्ष अनुभव किया था, जब मैं जेल में हठ-योग का अभ्यास कर रहा था। मैं हमेशा अनुभव करता था कि वे मेरे पीछे खड़े होकर मुझे देख रहे हैं। यह विवेकानन्द की आत्मा थी जिसने मुझे उच्चतर चेतना की कुंजी बतायी। इससे मुझे स्पष्ट हुआ कि सत्-चेतना किस प्रकार प्रत्येक वस्तु में क्रियाशील है।" शिष्य के यह पूछने पर कि क्या उन्होंने आपको अतिमानस के बारे में बताया, श्री अरविन्द ने आगे कहा, "नहीं, उन्होंने अतिमानस शब्द का प्रयोग नहीं किया। यह मेरा अपना आविष्कृत शब्द है। उन्होंने यह ऐसे, वह वैसे—इस तरह समझाया। यानी किस तरह उसकी उपलब्धि के लिए अभ्यास किया जाता है, यह समझाया और संकेत द्वारा बतलाया। वे अलीपुर जेल में लगातार पन्द्रह दिनों तक आते रहे। और जब तक मैंने यह पूरा समझ नहीं लिया कि उच्चतर चेतना की सक्रियता कैसी होती है और कैसे वह अतिमानस की ओर ले जाती है, वे लगातार बताते रहे। उन्होंने तब तक मुझे नहीं छोड़ा, जब तक वह बात मेरे मन में अच्छी तरह पैठ नहीं गयी।"

इस विषय में उनकी कुछ और भी उक्तियाँ उल्लेखनीय हैं, यथा—"विवेकानन्द ने अलीपुर जेल में मुझे उस ज्ञान के मूल तत्त्व दिये जो हमारी साधना का आधार हैं।" या फिर—"विवेकानन्द की आत्मा ने ही मुझे सर्वप्रथम अतिमानस की दिशा में संकेत दिया था।

. . .परवर्ती काल में इस घटना का मेरे मन पर विशेष प्रभाव पड़ा था ।"

श्री अरविन्द ने अनेकों बार स्वामी विवेकानन्द के प्रति अपनी हार्दिक श्रद्धांजलि अर्पित की है और स्वाभाविक रूप से ही उसमें उनके आराध्य गुरुदेव का भी उल्लेख आ गया है। वे लिखते हैं—"रामकृष्ण क्या थे ?—मानवी आधार में प्रकट भगवान्; . . .और विवेकानन्द ?—महादेव के नयन से निःसृत एक दीप्त कटाक्ष ।"

"विवेकानन्द जब पहली बार श्रीरामकृष्ण के पास आये थे, तो उन्हें देखते ही वे समझ गये कि समस्त भारत मेरे समीप आया है, समस्त भारत मेरे चरणों में सिर झुका रहा है, समस्त भारत मुझे अपना सर्वस्व सर्मपित करने को आया है। भारत के राष्ट्रीय आदर्श का बीज विवेकानन्द के भीतर निहित था । ठाकुर रामकृष्ण ने उसी को जल से सींचकर विकसित किया था। इसी कारण भावी भारत के प्रतिनिधि को उन्होंने अतीव यत्नपूर्वक गढ़ा था। उन्हें (विवेकानन्द) को देखते ही वे समझ गये थे कि इन्हीं के द्वारा भारतवर्ष तथा सम्पूर्ण पृथ्वी का कल्याण सम्पन्न होगा। उन्होंने चित्र की भाँति स्पष्ट रूप से देखा था कि स्वामीजी उनके सन्देश का सम्पूर्ण पृथ्वी पर प्रचार कर रहे हैं। विवेकानन्द ही हमारे राष्ट्रीय जीवन के संगठक हैं । वे ही इसके प्रधान नायक हैं। इसीलिए कल उनका जो आदर्श था, आज उसी को अपनाकर भारतवासी जीवनपथ पर अग्रसर हो रहे हैं।"

'कर्मयोगिन्' पत्रिका में उन्होंने लिखा था—"गुरु

द्वारा निर्दिष्ट होकर, एक वीर पुरुष की भाँति, पूरे जगत को अपने दोनों हाथों में लेकर बदल डालने के सुनिश्चित उद्देश्य के साथ विवेकानन्द का उदय विश्व के समक्ष पहला संकेत था कि भारत न केवल आत्म-रक्षा के लिए अपितु विजय करने को जागा है।"

अपनी एक अन्य बँगला रचना में श्री अरविन्द लिखते हैं—"हमारा विश्वास है कि जो कुछ उन्होंने (श्रीरामकृष्ण ने) मुख से नहीं कहा, उसे कार्यरूप में परिणत कर गये हैं। वे भावी भारत को, भावी भारत के प्रतिनिधि को अपने समक्ष बैठाकर गढ़ गये हैं और वे हैं स्वामी विवेकानन्द। बहुतेरे लोगों का मत है कि स्वामी विवेकानन्द की स्वदेशप्रीति उनकी अपनी ही देन है, परन्तु सूक्ष्मदृष्टि से अवलोकन करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि अपना स्वदेशप्रेम उन्हें अपने परमपूज्य गुरुदेव से प्राप्त हुआ है। उन्होंने भी इसे अपना कहकर कोई दावा नहीं किया है। लोकगुरु उन्हें जिस पद्धति से गढ़ गये थे, वही भावी भारत के गठन का उत्कृष्ट पथ है। उनके बारे में कोई नियम आदि का विचार न था—उन्होंने उनको पूर्णतः एक वीर साधक के रूप में गढ़ा था। वे जन्मजात वीर थे और यही उनका स्वभावसिद्ध भाव था। श्रीरामकृष्ण उनसे कहा करते थे—'तू तो वीर है रे!' वे जानते थे कि जिस शक्ति का आज मैं उसके भीतर संचार कर रहा हूँ, उसके विकसित होने पर राष्ट्र उसकी रविरश्मि-माला से आवृत हो उठेगा। हमारे नवयुवकों को भी इसी भाव की साधना करनी होगी। उन्हें (अपने स्वार्थ के प्रति) बेपरवाह होकर देश का कार्य करना होगा

और निरन्तर यह भगवद्वाणी स्मरण रखनी होगी—
'तू तो वीर है रे!' "

स्वामीजी के अलौकिक 'अहं'-भाव के प्रसंग में वे कहते हैं—"मद्रासी पण्डित के प्रति विवेकानन्द की उस प्रसिद्ध उक्ति को ही लो। उनकी किसी एक बात पर पण्डित ने संशय व्यक्त करते हुए कहा था, 'परन्तु शंकराचार्य तो ऐसा नहीं कहते!' इस पर विवेकानन्द का उत्तर था, 'नहीं, पर मैं विवेकानन्द ऐसा कहता हूँ।' पण्डितजी तो यह सुनकर अवाक् ही रह गये थे। 'मैं विवेकानन्द'—उनकी यह उक्ति सामान्य लोगों को हिमालय सदृश 'अहं'-भाव की बोधक प्रतीत होगी। परन्तु विवेकानन्द के आध्यात्मिक ज्ञान में कुछ भी अतिशयोक्ति या मिथ्यावाद नहीं था। और यह उनका अहंभाव नहीं है, यह है एक अति महत् का बोध, जिसके लिए उनका जीवन था, जिसके प्रतिनिधि के रूप में वे संग्राम कर रहे थे—और उसे यदि कोई खर्व या तुच्छ करे, यह उन्हें सहन नहीं होता था।"

उनके सन्देश के बारे में श्री अरविन्द कहते हैं—"उनका एक-एक कार्य, उनकी वाणी या लेखनी से प्रस्फुटित एक-एक शब्द, भारतीय राष्ट्रीयता की कल्पना से लिपटे हुए भ्रमों, मिथ्या धारणाओं, मरीचिकाओं, अन्धानुकरणों तथा निराशाओं के लिए अग्निबाण था। . . . राष्ट्रीयता को युगधर्म के रूप में स्वीकार करना और राष्ट्रभक्ति को जगाने में जीवन का क्षण-क्षण लगाना ही उन 'मनुष्यों के बीच साक्षात् सिंह' का सन्देश था।"

श्री अरविन्द की विवेकानन्द-भक्ति के प्रसंग में

प्रख्यात विचारक काका कालेलकर ने कहा था—"प्रश्न होगा कि विवेकानन्द का सम्बन्ध अरविन्द से कैसे रहा, तो मैं बताता हूँ कि अरविन्द के अपने हस्ताक्षरों से लिखी हुई एक नोटबुक मेरे पास थी। उसमें उपनिषद् की अपनी पहली लेखमाला अरविन्द ने लिखी थी, और वह रामकृष्ण-विवेकानन्द को अर्पित की गयी थी। वह नोटबुक मैंने पाण्डीचेरी आश्रम को भेंट की है।"

○

स्वामी विवेकानन्द

मुंशी प्रेमचन्द

(उपन्यास-सम्राट् लेखक ने यह लेख उर्दू भाषा में अपने साहित्यिक जीवन के उषाकाल में लिखा था, जो 'जमाना' मासिक के मई १९०८ ई. के अंक में प्रकाशित हुआ था। बाद में इसका यह हिन्दी अनुवाद लेखक ने स्वयं किया। प्रस्तुत लेख उनकी 'कलम, तलवार और त्याग' नामक पुस्तक से साभार गृहीत हुआ है। तथ्यों में कहीं कहीं पर भूलें होते हुए भी हम इस लेख को उसकी ऐतिहासिकता के लिए प्रकाशित कर रहे हैं।—स०)

कृष्ण भगवान् ने गीता में कहा है कि जब-जब धर्म का ह्रास और पाप की प्रबलता होती है, तब-तब मैं मानव-जाति के कल्याण के लिए अवतार लिया करता हूँ। इस नाशवान् जगत् में सर्वत्र सामान्यत: और भारतवर्ष में विशेषत: जब कभी पाप की वृद्धि या और किसी कारण (समाज के) संस्कार या नव-निर्माण की आवश्यकता हुई, तो ऐसे सच्चे सुधारक और पथप्रदर्शक प्रकट हुए हैं, जिनके आत्मबल ने सामयिक परिस्थिति पर विजय प्राप्त की। पुरातन काल में जब पाप-अनाचार प्रबल हो उठे, तो कृष्ण भगवान् आये और अनीति-अत्याचार की आग बुझायी। इसके बहुत दिन बाद क्रूरता, विलासिता और स्वार्थ-परता का फिर दौरदौरा हुआ, तो बुद्ध भगवान् ने जन्म लिया और उनके उपदेशों ने धर्मभाव की ऐसी धारा बहा दी, जिसने कई सौ साल तक जड़वाद को सिर न उठाने दिया। पर जब कालप्रवाह ने इस उच्च आध्यात्मिक शिक्षा की नींव को भी खोखली कर दिया और उसकी आड़ में दम्भ-दुराचार ने फिर जोर पकड़ा, तो शंकर स्वामी ने अवतार लिया और

अपनी वाग्मिता तथा योगबल से धर्म के परदे में होनेवाली बुराइयों की जड़ उखाड़ दी। अनन्तर कबीर साहब और श्री चैतन्य महाप्रभु प्रकट हुए और अपनी आत्मसाधना का सिक्का लोगों के दिलों पर जमा गये।

ईसा की पिछली शताब्दी के प्रारम्भ में जड़वाद ने फिर सिर उठाया, और इस बार उसका आक्रमण ऐसा प्रबल था, अस्त्र ऐसे अमोघ और सहायक ऐसे सबल थे कि भारत के आत्मवाद को उसके सामने सिर झुका देना पड़ा और कुछ ही दिनों में हिमालय से लगाकर कन्याकुमारी तथा अटक से कटक तक उसकी पताका फहराने लगी। हमारी आँखें इस भौतिक प्रकाश के सामने चौंधिया गयीं, और हमने अपने प्राचीन तत्त्वज्ञान, प्राचीन शास्त्रविज्ञान, प्राचीन समाज-व्यवस्था, प्राचीन धर्म और प्राचीन आदर्शों को त्यागना आरम्भ कर दिया। हमारे मन में दृढ़ धारणा हो गयी कि हम बहुत दिनों से मार्ग-भ्रष्ट हो रहे थे और आत्मा-परमात्मा की बातें निरी ढकोसला हैं। पुराने जमाने में भले ही उनसे कुछ लाभ हुआ हो, पर वर्तमान काल के लिए यह किसी प्रकार उपयुक्त नहीं और इस रास्ते से हटकर हमने नये राज-मार्ग को न पकड़ा, तो कुछ ही दिनों में धरा-धाम से लुप्त हो जाएँगे।

ऐसे समय पुनीत भारत-भूमि में पुनः एक महापुरुष का आविर्भाव हुआ, जिसके हृदय में अध्यात्म-भाव का सागर लहरा रहा था; जिसके विचार ऊँचे और दृष्टि दूरगामिनी थी; जिसका हृदय मानव-प्रेम

से ओतप्रोत था। उसकी सच्चाई-भरी ललकार ने क्षण भर में जड़वादी संसार में हलचल मचा दी। उसने नास्तिक्य के गढ़ में घुसकर साबित कर दिया कि तुम जिसे प्रकाश समझ रहे हो, वह वास्तव में अन्धकार है, और यह सभ्यता जिस पर तुमको इतना गर्व है, सच्ची सभ्यता नहीं। इस सच्चे विश्वास के बल से भरे हुए भाषण ने भारत पर भी जादू का असर किया और जड़वाद के प्रखर प्रवाह ने अपने सामने ऊँची दीवार खड़ी पायी, जिसकी जड़ को हिलाना या जिसके ऊपर से निकल जाना उसके लिए असाध्य कार्य था।

आज अपनी समाज-व्यवस्था, अपने वेदशास्त्र, अपने रीति-व्यवहार और धर्म को हम आदर की दृष्टि से देखते हैं। यह उसी पूतात्मा के उपदेशों का सुफल है कि हम अपने प्राचीन आदर्शों की पूजा करने को प्रस्तुत हैं और यूरोप के वीर पुरुष और योद्धा, विद्वान् और दार्शनिक हमें अपने पण्डितों, मनीषियों के सामने निरे बच्चे मालूम होते हैं। आज हम किसी बात को, चाहे वह धर्म और समाज-व्यवस्था से सम्बन्ध रखती हो या ज्ञान-विज्ञान से, केवल इसलिए मान लेने को तैयार नहीं हैं कि यूरोप में उसका चलन है। किन्तु उसके लिए हम अपने धर्मग्रन्थों और पुरातन पूर्वजों का मत जानने का यत्न करते और उनके निर्णय को सर्वोपरि मानते हैं। और यह सब ब्रह्मलीन स्वामी विवेकानन्द के आध्यात्मिक उपदेशों का ही चमत्कार है।

स्वामी विवेकानन्दजी का जीवन-वृत्तान्त बहुत

संक्षिप्त है । दुःख है कि आप भरी जवानी में ही इस दुनिया से उठ गये और आपके महान् व्यक्तित्व से देश और जाति को जितना लाभ पहुँच सकता था, न पहुँच सका । १८६३ ई. में वह एक प्रतिष्ठित कामराय कुल में उत्पन्न हुए । बचपन से ही होनहार दिखाई देते थे । अँगरेजी स्कूलों में शिक्षा पायी और १८८४ में बी. ए. की डिग्री हासिल की । उस समय उनका नाम नरेन्द्रनाथ दत्त था । कुछ दिनों तक ब्राह्म-समाज के अनुयायी रहे । नित्य प्रार्थना में सम्मिलित होते और चूँकि गला बहुत ही अच्छा पाया था, इसलिए कीर्तन-समाज में भी शरीक हुआ करते थे । पर ब्राह्म-समाज के सिद्धान्त उनकी प्यास न बुझा सके । धर्म उनके लिए केवल किसी पुस्तक से दो-चार श्लोक पढ़ देने, कुछ विधि-विधानों का पालन कर देने और गीत गाने का नाम नहीं हो सकता था । कुछ दिनों तक सत्य की खोज में इधर-उधर भटकते रहे ।

उन दिनों रामकृष्ण परमहंस के प्रति लोगों की श्रद्धा थी । नवयुवक नरेन्द्रनाथ ने भी उनके सत्संग से लाभ उठाना आरम्भ किया और धीरे-धीरे उनके उपदेशों से इतने प्रभावित हुए कि उनकी भक्त-मण्डली में सम्मिलित हो गये और उस सच्चे गुरु से अध्यात्म तत्त्व और वेदान्त-रहस्य स्वीकार कर अपनी जिज्ञासा तृप्त की । परमहंसजी के देहत्याग के बाद नरेन्द्र ने कोट-पतलून उतार फेंका और संन्यास ले लिया । उस समय से आप विवेकानन्द नाम से प्रसिद्ध हुए । उनकी गुरु-भक्ति गुरु-पूजा की

सीमा तक पहुँच गयी थी । जब कभी आप उनकी चर्चा करते हैं, तो एक-एक शब्द से श्रद्धा और सम्मान टपकता है । 'मेरे गुरुदेव' के नाम से उन्होंने न्यूयार्क में एक विद्वत्तापूर्ण भाषण किया, जिसमें परमहंसजी के गुणों का गान बड़ी श्रद्धा और उत्साह के स्वर में किया गया है ।

स्वामी विवेकानन्द ने गुरुदेव के प्रथम दर्शन का वर्णन इस प्रकार किया है—देखने में वह बिलकुल साधारण आदमी मालूम होते थे । उनके रूप में कोई विशेषता न थी । बोली बहुत सरल और सीधी थी । मैंने मन में सोचा कि क्या यह सम्भव है कि यह सिद्ध पुरुष हों । मैं धीरे-धीरे उनके पास पहुँच गया और उनसे वह प्रश्न पूछे, जो मैं अक्सर औरों से पूछा करता था—"महाराज, क्या आप ईश्वर के अस्तित्व में विश्वास रखते हैं ?" उन्होंने जवाब दिया—"हाँ ।" मैंने फिर पूछा—"क्या आप उसका अस्तित्व सिद्ध भी कर सकते हैं ?" जवाब मिला—"हाँ !" मैंने पूछा—"क्योंकर ?" जवाब मिला—"मैं उसे ठीक वैसे ही देखता हूँ, जैसे तुमको ।"

परमहंसजी की वाणी में कोई वैद्युतिक शक्ति थी, जो संशयात्मा को तत्क्षण ठीक रास्ते पर लगा देती थी और यही प्रभाव स्वामी विवेकानन्द की वाणी और दृष्टि में भी था । हम कह चुके हैं कि परमहंसजी के परमधाम सिधारने के बाद स्वामी विवेकानन्द ने संन्यास ले लिया । उनकी माता उच्चाकांक्षिणी स्त्री थीं । उनकी इच्छा थी कि मेरा लड़का वकील हो, अच्छे घर में उसका ब्याह

हो, और दुनिया के सुख भोगे । उनके संन्यास-धारण के निश्चय का समाचार पाया, तो परमहंसजी की सेवा में उपस्थित हुई और अनुनय-विनय की कि मेरे बेटे को जोग न दीजिए; पर जिस हृदय ने शाश्वत प्रेम और आत्मानुभूति के आनन्द का स्वाद पा लिया हो, उसे लौकिक सुख-भोग कब अपनी ओर खींच सकते हैं ! परमहंसजी कहा करते थे कि जो आदमी दूसरों को आध्यात्मिक उपदेश देने की आकांक्षा करे, उसे पहले स्वयं उस रंग में डूब जाना चाहिए। इस उपदेश के अनुसार स्वामीजी हिमालय पर चले गये और पूरे नौ साल तक तपस्या और चित्त-शुद्धि की साधना में लगे रहे । बिना खाये, बिना सोये, एकदम नग्न और एकदम अकेले सिद्ध-महात्माओं की खोज में ढूंढ़ते और उनके सत्संग से लाभ उठाते रहते थे । कहते हैं कि परमतत्त्व की जिज्ञासा उन्हें तिब्बत खींच ले गयी,* जहाँ उन्होंने बौद्ध धर्म के सिद्धान्तों और साधन-प्रणाली का समीक्षक बुद्धि से अध्ययन किया । स्वामीजी खुद फरमाते हैं कि मुझे दो-दो तीन-तीन दिन तक खाना न मिलता था । अक्सर ऐसे स्थान पर नंगे बदन सोया हूँ, जहाँ की सर्दी का अन्दाजा थर्मामीटर से नहीं लग सकता । कितनी ही बार शेर, बाघ और दूसरे शिकारी जानवरों का सामना हुआ । पर राम के प्यारे को इन बातों का क्या डर !

---

* अपने गुरुदेव के शरीर-त्याग के पश्चात स्वामीजी लगभग सात वर्ष भारत के विभिन्न भागों में पदव्रजन करते रहे। उनकी इच्छा तिब्बत भी जाने की थी, पर वह पूर्ण न हो पायी । (स०)

स्वामी विवेकानन्द हिमालय में थे, जब उन्हें प्रेरणा हुई कि अब तुम्हें अपने गुरुदेव के आदेश का पालन करना चाहिए। अतः वह पहाड़ से उतरे और बंगाल, संयुक्त प्रान्त, राजपूताना, बम्बई आदि में रेल से और अक्सर पैदल भी भ्रमण करते; किन्तु जो जिज्ञासु जन श्रद्धावश उनकी सेवा में उपस्थित होते थे, उन्हें धर्म और नीतितत्त्वों का उपदेश करते थे। जिसे विपद्ग्रस्त देखते, उसको सान्त्वना देते। मद्रास उस समय नास्तिकों और जड़वादियों का केन्द्र बन रहा था। अँगरेजी विश्वविद्यालयों से निकले हुए नवयुवक, जो अपने धर्म और समाज-व्यवस्था के ज्ञान से बिलकुल कोरे थे, खुलेआम ईश्वर का अस्तित्व अस्वीकार किया करते थे। स्वामीजी यहाँ अरसे तक टिके रहे और कितने ही होनहार नौजवानों को धर्म-परिवर्तन से रोका और जड़वाद के जाल से बचाया। कितनी ही बार लोगों ने उनसे वाद-विवाद किया, उनकी खिल्ली उड़ायी; पर वह अपने वेदान्त के रंग में इतना डूबे हुए थे कि उन्हें किसी की हँसी-मजाक की तनिक भी परवाह न थी। धीरे-धीरे उनकी ख्याति नवयुवक-मण्डली से बाहर निकलकर कस्तूरी की गन्ध की तरह चारों ओर फैलने लगी। बड़े-बड़े धनी-मानी लोग भक्त और शिष्य बन गये और उनसे नीति तथा वेदान्त-तत्त्व के उपदेश लिये। जस्टिस सुब्रह्मण्यन् ऐयर, महाराजा रामनद (मद्रास) और महाराजा खेतड़ी (राजपूताना) उनके प्रमुख शिष्यों में थे।

स्वामीजी मद्रास में थे, जब अमरीका में सर्व-

धर्म-सम्मेलन के आयोजन का समाचार मिला । वह तुरन्त उसमें सम्मिलित होने को तैयार हो गये। और उनसे बड़ा ज्ञानी तथा वक्ता और था ही कौन ? भक्त-मण्डली की सहायता से आप इस पवित्र यात्रा पर रवाना हो गये । आपकी यात्रा अमरीका के इतिहास की अमर घटना है । यह पहला अवसर था कि कोई पश्चिमी जाति दूसरी जातियों के धर्म-विश्वासों की समीक्षा और स्वागत के लिए तैयार हुई हो । रास्ते में स्वामीजी ने चीन और जापान का भ्रमण किया और जापान के सामाजिक जीवन से बहुत प्रभावित हुए । वहाँ से एक पत्र में लिखते हैं——

"आओ, इन लोगों को देखो और जाकर शर्म से मुँह छिपा लो । आओ, मर्द बनो ! अपने संकीर्ण बिलों से बाहर निकलो और जरा दुनिया की हवा खाओ ।"

अमरीका पहुँचकर उन्हें मालूम हुआ कि अभी सम्मेलन होने में बहुत देर है । ये दिन उनके बड़े कष्ट में बीते । अकिंचनता की यह दशा थी कि पास में ओढ़ने-बिछाने तक को काफी न था । पर उनकी सन्तोष-वृत्ति इन सब कष्ट-कठिनाइयों पर विजयी हुई । अन्त में बड़ी प्रतीक्षा के बाद नियत तिथि आ पहुँची । दुनिया के विभिन्न धर्मों ने अपने-अपने प्रतिनिधि भेजे थे, और यूरोप के बड़े-बड़े पादरी और धर्मशास्त्र के अध्यापक, आचार्य हजारों की संख्या में उपस्थित थे । ऐसे महासम्मेलन में एक अकिंचन असहाय नवयुवक का कौन पुछैया था, जिसकी देह

पर साबित कपड़े भी न थे? पहले तो किसी ने उनकी ओर ध्यान ही न दिया, पर सभापति ने बड़ी उदारता के साथ उनकी प्रार्थना स्वीकार कर ली, और वह समय आ गया कि स्वामीजी श्रीमुख से कुछ कहें। उस समय तक उन्होंने किसी सार्वजनिक सभा में भाषण न किया था।

एकबारगी ८-१० हजार विद्वानों और समीक्षकों के सामने खड़े होकर भाषण करना कोई हँसी-खेल न था। मानव-स्वभाववश क्षण-भर स्वामीजी को भी घबराहट रही, पर केवल एक बार तबियत पर जोर डालने की जरूरत थी। स्वामीजी ने ऐसी पाण्डित्यपूर्ण, ओजस्वी और धाराप्रवाह वक्तृता की कि श्रोतृमण्डली मंत्रमुग्ध-सी हो गयी। यह असभ्य हिन्दू, और ऐसा विद्वत्तापूर्ण भाषण! किसी को विश्वास न होता था। आज भी इस वक्तृता को पढने से भावावेश की अवस्था हो जाती है। वक्तृता क्या है, भगवद्गीता और उपनिषदों के ज्ञान का निचोड़ है। पश्चिमवालों को आपने पहली बार सुझाया कि धर्म के विषय में निष्पक्ष उदार भाव रखना किसको कहते हैं। और धर्मवालों के विपरीत आपने किसी धर्म की निन्दा न की और पश्चिम-वालों की जो बहुत दिनों से यह धारणा हो रही थी कि हिन्दू तअस्सुब के पुतले हैं, वह एकदम दूर हो गयी। वह भाषण ऐसा ज्ञान-गर्भ और अर्थ-भरा है कि उसका खुलासा करना असम्भव है, पर उसका निचोड़ यह है—

'हिन्दू धर्म का आधार किसी विशेष सिद्धान्त

को मानना या कुछ विशेष विधि-विधानों का पालन करना नहीं है । हिन्दू का हृदय शब्दों और सिद्धान्तों से तृप्ति-लाभ नहीं कर सकता । अगर कोई ऐसा लोक है, जो हमारी स्थूल दृष्टि से अगोचर है, तो हिन्दू उस दुनिया की सैर करना चाहता है; अगर कोई ऐसी सत्ता है, जो भौतिक नहीं है; कोई ऐसी सत्ता है, जो न्याय-रूप, दया-रूप और सर्वशक्तिमान् है, तो हिन्दू उसे अपनी अर्न्तदृष्टि से देखना चाहता है । उसके संशय तभी छिन्न होते हैं, जब वह इन्हें देख लेता है ।'

आपने पाश्चात्यों को पहली बार सुनाया कि विज्ञान के वह सिद्धान्त, जिनका उनको गर्व है और जिनका धर्म से सम्बन्ध नहीं, हिन्दुओं को अति प्राचीन काल से विदित थे और हिन्दू धर्म की नींव उन्हीं पर खड़ी है, और जहाँ अन्य धर्मों का आधार कोई विशेष व्यक्ति या उसके उपदेश हैं, हिन्दू धर्म का आधार शाश्वत सनातन सिद्धान्त हैं, और यह इस बात का प्रमाण है कि वह कभी न कभी विश्व-धर्म बनेगा । कर्म को केवल कर्तव्य समझकर करना, उसमें फल या सुख-दुःख की भावना न रखना ऐसी बात थी, जिससे पश्चिमवाले अब तक सर्वथा अपरिचित थे । स्वामीजी के ओजस्वी भाषणों और सच्चाई भरे उपदेशों से लोग इतने प्रभावित हुए कि अमरीका के अखबार बड़ी श्रद्धा और सम्मान के शब्दों में स्वामीजी की बड़ाई छापने लगे । उनकी वाणी में वह दिव्य प्रभाव था कि सुननेवाले आत्म-विस्मृत हो जाते ।

भक्तों की संख्या दिन-दिन बढ़ने लगी। चारों ओर से जिज्ञासु जन उनके पास पहुँचते और अपने-अपने नगर में पधारने का अनुरोध करते। स्वामीजी को अकसर दिन-दिन भर दौड़ना पड़ता। बड़े-बड़े प्रोफेसरों और विद्वानों ने आकर उनके चरण छुए और उनके उपदेशों को हृदय में स्थान दिया।

स्वामीजी अमरीका में करीब तीन साल रहे और इस बीच श्रम और शरीर-कष्ट की तनिक भी परवाह न कर अपने गुरुदेव के आदेश के अनुसार वेदान्त का प्रचार करते रहे। इसके बाद इंग्लैण्ड की यात्रा की। आपकी ख्याति वहाँ पहले ही पहुँच चुकी थी। अँगरेजों को, जो नास्तिकता और जड़पूजा में दुनिया में सबसे आगे बढ़े हुए हैं, आकृष्ट करने में पहले आपको बहुत कष्ट करना पड़ा; पर आपका अद्भुत अध्यवसाय और प्रबल संकल्पशक्ति अन्त में इन सब बाधाओं पर विजयी हुई और आपकी वक्तृताओं का जादू अँगरेजों पर भी चल गया। ऐसे-ऐसे वैज्ञानिक, जिन्हें खाने के लिए भी प्रयोगशाला के बाहर निकलना कठिन था, आपका भाषण सुनने के लिए घण्टों पहले सभा में पहुँच जाते और प्रतीक्षा में बैठे रहते। आपने वहाँ तीन बड़े मारके के भाषण किये और आपकी वाग्मिता तथा विद्वत्ता का सिक्का सबके दिलों पर बैठ गया। सब पर प्रकट हो गया कि जड़वाद में यूरोप चाहे भारत से कितना ही आगे क्यों न हो, पर अध्यात्म और ब्रह्मज्ञान का मैदान हिन्दुस्तानियों का ही है! आप करीब एक साल तक वहाँ रहे और अनेकानेक सभा-समितियों, कालिजों

और क्लब-घरों से आपके पास निमंत्रण आते थे। वेदान्त के प्रचार का कोई भी अवसर आप हाथ से न जाने देते। आपकी ओजमयी वक्तृताओं का यह प्रभाव हुआ कि बिशपों और पादरियों ने गिरजों में वेदान्त पर उनके भाषण कराये।

एक दिन एक सम्भ्रान्त महिला के मकान पर लन्दन के अध्यापकों की सभा होनेवाली थी। श्रीमतीजी शिक्षा-विषय पर बड़ा अधिकार रखती थीं। उनका भाषण सुनने तथा उस पर बहस की इच्छा से विद्वान् एकत्र हुए थे। संयोगवश श्रीमतीजी की तबियत कुछ खराब हो गयी। स्वामीजी वहाँ विद्यमान थे। लोगों ने प्रार्थना की कि आप ही कुछ फ़रमाएँ। स्वामीजी उठ खड़े हुए और भारत की शिक्षा-प्रणाली पर पाण्डित्यपूर्ण भाषण किया। उन शिक्षा-व्यवसायियों को कितना आश्चर्य हुआ, जब स्वामीजी के श्रीमुख से सुना कि भारत में विद्यादान सब दानों से श्रेष्ठ माना गया है और भारतीय गुरु अपने विद्यार्थियों से कुछ लेता नहीं, बल्कि उन्हें अपने घर पर रखता है और उनको विद्यादान के साथ-साथ भोजन-वस्त्र भी देता है।

धीरे-धीरे यहाँ भी स्वामीजी की भक्त-मण्डली काफ़ी बड़ी हो गयी। बहुत से लोग, जो अपनी रुचि का आध्यात्मिक भोजन न पाकर धर्म से विरक्त हो रहे थे, वेदान्त पर लट्टू हो गये, और स्वामीजी में उनकी इतनी श्रद्धा हो गयी कि यहाँ से जब वह चले, तो उनके साथ कई अँगरेज शिष्य थे, जिनमें कुमारी नोबल भी थीं, जो बाद को भगिनी निवेदिता

के नाम से प्रसिद्ध हुई। स्वामीजी ने अँगरेजों के रहन-सहन और चरित्र-स्वभाव को बड़ी सूक्ष्म दृष्टि से देखा-समझा। इस अनुभव की चर्चा करते हुए भाषण में आपने कहा कि यह क्षत्रियों और वीर पुरुषों की जाति है।

१६ सितम्बर* १८९६ ई. को स्वामीजी कई अँगरेज चेलों के साथ प्रिय स्वदेश को रवाना हुए। भारत के छोटे-बड़े सब लोग आपकी उज्ज्वल विरुदावली को सुन-सुनकर आपके दर्शन के लिए उत्कण्ठित हो रहे थे। आपके स्वागत और अभ्यर्थना के लिए नगर-नगर में कमेटियाँ बनने लगीं। स्वामीजी जब जहाज से कोलम्बो में उतरे, तो जनसाधारण ने जिस उत्साह और उल्लास से आपका स्वागत किया, वह एक दर्शनीय दृश्य था। कोलम्बो से अल्मोड़ा तक जिस-जिस नगर में आप पधारे, लोगों ने आपकी राह में आँखें बिछा दीं। अमीर-ग़रीब, छोटे-बड़े सबके हृदय में आपके लिए एक-सा आदर-सम्मान था। यूरोप में बड़े विजेताओं की जो अभ्यर्थना हो सकती है, उससे कई गुना अधिक भारत में स्वामीजी की हुई। आपके दर्शन के लिए लाखों की भीड़ जमा हो जाती थी और लोग आपको एक नजर देखने के लिए मंजिलें तै करके आते थे; क्योंकि भारतवर्ष लाख गया-बीता है, फिर भी एक सच्चे सन्त और महात्मा का जैसा कुछ आदर-सम्मान भारतवासी कर सकते हैं, वैसा और किसी देश में सम्भव नहीं। यहाँ मन को जीतने और हृदयों को वश में करनेवाले विजेता

* वस्तुतः १६ दिसम्बर को। (स०)

का, देश को जीतने और मानव-प्राणियों का रक्त बहानेवाले विजेता से कहीं अधिक आदर-सम्मान होता है ।

हर शहर में जनसाधारण की ओर से आपके कार्यों की बड़ाई और कृतज्ञता-प्रकाश करनेवाले मानपत्र दिये गये । कुछ बड़े शहरों में तो पन्द्रह-पन्द्रह बीस-बीस मानपत्र दिये गये और आपने उनके उत्तर में देशवासियों को देशभक्ति के उत्साह तथा अध्यात्म-तत्त्व से भरी हुई वक्तृताएँ सुनायीं । मद्रास में आपके स्वागत के लिए १७ आलीशान फाटक बनाये गये । महाराज रामनद ने, जिनकी सहायता से स्वामीजी अमरीका गये थे, इस समय बड़े उत्साह और उदारता के साथ आपके स्वागत का आयोजन किया । मद्रास के विभिन्न स्थानों में घूमते और अपने अमृत उपदेशों से लोगों को तृप्त, आह्लादित करते हुए २८ फरवरी को स्वामीजी कलकत्ते पधारे । यहाँ आपके स्वागत-अभिनन्दन के लिए लोग पहले ही अधीर हो रहे थे । जिस समय आपको मानपत्र दिया गया, सभा में पाँच हजार से अधिक लोग उपस्थित थे । राजा विनयकृष्ण बहादुर ने स्वयं मानपत्र पढ़ा, जिसमें स्वामीजी के भारत का गौरव बढ़ानेवाले कार्यों का बखान किया गया था ।

उत्तर में स्वामीजी ने एक अति पाण्डित्यपूर्ण भाषण किया ।

अध्यापन और उपदेश में अत्यधिक श्रम करने के कारण आपका स्वास्थ्य बिगड़ गया और जल-वायु-परिवर्तन के लिए आपको दार्जिलिंग जाना पड़ा ।

वहाँ से अल्मोड़ा गये। पर स्वामीजी ने तो वेदान्त के प्रचार का व्रत ले रखा था, उनको बेकारी में कब चैन आ सकता था? ज्योंही तबियत जरा सँभली, स्यालकोट पधारे और वहाँ से लाहौर वालों की भक्ति ने अपने यहाँ खींच बुलाया। इन दोनों स्थानों में आपका बड़े उत्साह से स्वागत-सत्कार हुआ और आपने अपनी अमृतवाणी से श्रोताओं के अन्त:करणों में ज्ञान की ज्योति जगा दी। लाहौर से आप काश्मीर गये और वहाँ से राजपूताने का भ्रमण करते हुए कलकत्ता लौट आये। इस बीच आपने दो मठ स्थापित कर दिये थे। इसके कुछ दिन बाद रामकृष्ण मिशन की स्थापना की, जिसका उद्देश्य लोकसेवा है और जिसकी शाखाएँ भारत के हर भाग में विद्यमान हैं तथा जनता का अमित उपकार कर रही हैं।

१८९७ ई. का साल सारे हिन्दुस्तान के लिए बड़ा मनहूस था। कितने ही स्थानों में प्लेग का प्रकोप था और अकाल भी पड़ रहा था। लोग भूख और रोग से काल का ग्रास बनने लगे। देशवासियों को इस विपत्ति में देखकर स्वामीजी कैसे चुप बैठ सकते थे? आपने लाहौरवाले भाषण में कहा था—

'साधारण मनुष्य का धर्म यही है कि साधु-संन्यासियों और दीन-दुखियों को भरपेट भोजन कराए। मनुष्य का हृदय ईश्वर का सबसे बड़ा मन्दिर है, और इसी मन्दिर में उसकी आराधना करनी होगी।'

फलत: आपने बड़ी सरगर्मी से खैरातखाने खोलना आरम्भ किया। उन्होंने देश-सेवाव्रती संन्यासियों की एक छोटी-सी मण्डली बना दी। यह सब स्वामीजी के निरी-

क्षण में तन-मन से दीन-दुखियों की सेवा में लग गये। मुर्शिदाबाद, ढाका, कलकत्ता, मद्रास आदि में सेवाश्रम खोले गये। वेदान्त के प्रचार के लिए जगह-जगह विद्यालय भी स्थापित किये गये। कई अनाथालय भी खुले। और वह सब स्वामीजी के सदुद्योग का सुफल था। उनका स्वास्थ्य बहुत बिगड़ रहा था, फिर भी वह स्वयं घर-घर घूमते और पीड़ितों को आश्वासन तथा आवश्यक सहायता देते-दिलाते। प्लेग-पीड़ितों की सहायता करना, जिनसे डाक्टर लोग भी भागते थे, कुछ इन्हीं देशभक्तों का काम था।

उधर इंग्लैण्ड और अमरीका में भी वह पौधा बढ़ रहा था, जिसका बीज स्वामीजी ने बोया था। दो संन्यासी अमरीका में और एक इंग्लैण्ड में वेदान्त-प्रचार में लगे हुए थे, और प्रेमियों की संख्या दिन-दिन बढ़ती जाती थी।

स्वामीजी का स्वास्थ्य जब बहुत अधिक बिगड़ गया, तो आपने लाचार हो इंग्लैण्ड की दूसरी यात्रा की और वहाँ कुछ दिन ठहरकर अमरीका चले गये। वहाँ आपका बड़े उत्साह से स्वागत हुआ। दो बरस पहले जिन लोगों ने आपके श्रीमुख से वेदान्त दर्शन पर जोरदार वक्तृताएँ सुनी थीं, वह अब पक्के वेदान्ती हो गये थे। स्वामीजी के दर्शन से उनके हर्ष की सीमा न रही। वहाँ का जलवायु स्वामीजी के लिए लाभजनक सिद्ध हुआ और कठिन श्रम करने पर भी कुछ दिन में आप फिर स्वस्थ हो गये।

धीरे-धीरे हिन्दू-दर्शन के प्रेमियों की संख्या इतनी बढ़ गयी कि स्वामीजी दिन-रात श्रम करके भी उनकी

पिपासा तृप्त न कर सकते थे। अमरीका जैसे व्यापारी देश में एक हिन्दू संन्यासी का भाषण सुनने के लिए दो-दो हजार आदमियों का जमा हो जाना कोई साधारण बात नहीं है। अकेले सानफ्रांसिस्को नगर में आपने हिन्दू-दर्शन पर पूरे पचास व्याख्यान दिये। श्रोताओं की संख्या दिन-दिन बढ़ती गयी। पर अध्यात्म-तत्त्व के प्रेमियों की तृप्ति केवल दार्शनिक व्याख्यान सुनने से न होती थी। साधन और योगाभ्यास की आकांक्षा भी उनके हृदयों में जगी। स्वामीजी ने उनकी सहायता से सानफ्रांसिस्को में 'वेदान्त सोसाइटी' और 'शान्ति-आश्रम' स्थापित किया और दोनों पौधे आज तक हरे-भरे हैं। शान्ति-आश्रम नगर के कोलाहल से दूर एक परम रमणीय स्थान पर स्थित है और उसका घेरा लगभग २०० एकड़ है। यह आश्रम एक उदार धर्मानुरागिनी महिला की वदान्यता का स्मारक है।

स्वामीजी न्यूयार्क में थे कि पेरिस में विभिन्न धर्मों का सम्मेलन करने की आयोजना हुई और आपको भी निमंत्रण मिला। उस समय तक आपने फ्रांसीसी भाषा में कभी भाषण न किया था। यह निमंत्रण पाते ही उसके अभ्यास में जुट गये और आत्मबल से दो महीने में ही उस पर इतना अधिकार प्राप्त कर लिया कि देखनेवाले दंग हो जाते। पेरिस में आपने हिन्दू-दर्शन पर दो व्याख्यान दिये, पर चूंकि यह केवल निबन्ध पढ़नेवालों का सम्मेलन था, और उसका उद्देश्य सत्य की खोज नहीं, किन्तु पेरिस प्रदर्शनी की शोभा बढ़ाना था, इसलिए फ्रांस में स्वामीजी को सफलता न हुई।

अन्त में अत्यधिक श्रम के कारण स्वामीजी का

शरीर बिलकुल गिर गया। यों ही बहुत कमजोर हो रहे थे, पेरिस-सम्मेलन की तैयारी ने और भी कमजोर बना दिया। अमरीका, इंग्लैण्ड और फ्रांस की यात्रा करते हुए जब आप स्वदेश लौटे, तो देह में हड्डियाँ भर रह गयी थीं और इतनी शक्ति न थी कि सार्वजनिक सभाओं में भाषण कर सकें। डाक्टरों की कड़ी ताकीद थी कि आप कम-से-कम दो साल तक पूर्ण विश्राम करें। पर जो हृदय अपने देशवासियों के दुःख देखकर गला जाता हो, और जिसमें उनकी भलाई की धुन समायी हो, जिसमें यह लालसा हो कि आज की धन और बल से हीन हिन्दू जाति फिर पूर्वकाल की सबल-समृद्ध और आत्मशालिनी आर्य जाति बने, उससे यह कब हो सकता था कि एक क्षण के लिए भी आराम कर सके। कलकत्ते पहुँचते ही, कुछ ही दिन के बाद आप आसाम की ओर रवाना हुए और अनेक सभाओं में वेदान्त का प्रचार किया। कुछ तो स्वास्थ्य पहले से बिगड़ा हुआ था, कुछ उधर का जलवायु भी प्रतिकूल सिद्ध हुआ। आप फिर कलकत्ते लौटे। दो महीने तक हालत बहुत नाजुक रही। फिर बिलकुल तन्दुरुस्त हो गये।

इन दिनों आप अक्सर कहा करते थे कि अब दुनिया में मेरा काम पूरा हो चुका। पर चूँकि उस काम को जारी रखने के लिए जितेन्द्रिय, निःस्वार्थ और आत्मबल-सम्पन्न संन्यासियों की अत्यन्त आवश्यकता थी, इसलिए अपने बहुमूल्य जीवन के शेष मास आपने अपनी शिष्य-मण्डली की शिक्षा और उपदेश में लगाये। आपका कथन था कि शिक्षा का उद्देश्य पुस्तक पढ़ाना नहीं है,

किन्तु मनुष्य को मनुष्य बनाना है। इन दिनों आप अक्सर समाधि की अवस्था में रहा करते थे और अपने भक्तों से कहा करते थे कि अब मेरे महाप्रस्थान का समय बहुत समीप है। ४ जुलाई १९०२ को यकायक आप समाधिस्थ हो गये। इस समय आपका स्वास्थ्य बहुत अच्छा था। सबेरे दो घण्टे समाधि में रहे थे, दोपहर को शिष्यों को पाणिनीय व्याकरण पढ़ाया था और तीसरे पहर दो घण्टे तक वेदोपदेश करते रहे। इसके बाद टहलने को निकले। शाम को लौटे तो थोड़ी देर माला जपने के बाद फिर समाधिस्थ हो गये और इसी रात को पंचभौतिक शरीर का त्याग कर परमधाम को सिधार गये। यह दुर्बल पार्थिव देह आत्म-साक्षात्कार की दिव्यानुभूति को न सह सकी।

पहले लोगों ने इस अवस्था को समाधि मात्र समझा और एक संन्यासी ने आपके कान में परमहंसजी का नाम सुनाया; पर जब इसका कुछ असर न हुआ, तब लोगों को विश्वास हो गया कि आप ब्रह्मलीन हो गये। आपके चेहरे पर तेज था और अधखुली आँखें आत्म-ज्योति से प्रकाशित थीं।

इस हृदय-विदारक समाचार को सुनते ही सारे देश में कोलाहल मच गया और दूर-दूर से लोग आपके अन्तिम दर्शन के लिए कलकत्ते पहुँचे। अन्त में दूसरे दिन दो बजे के समय गंगातट पर आपकी दाहक्रिया हुई। परमहंसजी की भविष्यवाणी थी कि मेरे इस शिष्य के जीवन का उद्देश्य जब पूरा हो जायगा, तब वह भरी जवानी में इस दुनिया से चल देगा। वह अक्षरशः सत्य निकली।

स्वामीजी का रूप बड़ा सुन्दर और भव्य था। शरीर सबल और सुदृढ़ था। वजन दो मन से ऊपर था। दृष्टि में बिजली का असर था और मुखमण्डल पर आत्मतेज का आलोक। आपकी दयालुता की चर्चा ऊपर कर चुके हैं। कड़ी बात शायद जबान से एक बार भी न निकली हो। विश्वविख्यात और विश्ववन्द्य होते हुए भी स्वभाव अति सरल और व्यवहार अति विनम्र था। उनका पाण्डित्य अगाध, असीम था। अँगरेजी के पूर्ण पण्डित और अपने समय के सर्वश्रेष्ठ वक्ता थे। संस्कृत साहित्य और दर्शन के पारगामी विद्वान् और जर्मन, हिब्रू, ग्रीक, फ्रेंच आदि भाषाओं पर पूर्ण अधिकार रखते थे। कठोर श्रम तो आपका स्वभाव ही था। केवल चार घण्टे सोते थे। चार बजे तड़के उठकर जप-ध्यान में लग जाते। प्राकृतिक दृश्यों के बड़े प्रेमी थे। भोर में तप-जप से निवृत्त होकर मैदान में निकल जाते और प्रकृति-सुषमा का आनन्द लेते। पालतू पशुओं को प्यार करते और उनके साथ खेलते। अपने गुरुदेव की अन्त समय तक पूजा करते रहे। स्वर में बड़ा माधुर्य और प्रभाव था।

श्रीरामकृष्ण परमहंस कभी-कभी आपसे भजन गाने की फरमाइश किया करते थे और उससे इतने प्रभावित होते कि आत्मविस्मृत-से हो जाते। मीराबाई और तानसेन के प्रेमभरे गीत आपको बहुत प्रिय थे। वाणी में वह प्रभाव था कि वक्तृताएँ श्रोताओं के हृदयों पर पत्थर की लकीर बन जातीं। कहने का ढंग और भाषा बहुत सरल होती थी; पर उन सीधे-सादे शब्दों में कुछ ऐसा आध्यात्मिक भाव भरा होता था कि सुननेवाले तल्लीन हो जाते थे। आप सच्चे देशभक्त

थे, राष्ट्र पर अपने को उत्सर्ग कर देने की बात आपसे अधिक शायद ही और किसी के लिए सही हो सकती हो। देशभक्ति का ही उत्साह आपको अमरीका ले गया था। अपने विपद्ग्रस्त राष्ट्र और अपने प्राचीन साहित्य तथा दर्शन का गौरव दूसरे राष्ट्रों की दृष्टि में स्थापित करना, ब्रह्मचारियों को शिक्षा देना, अपने पीड़ित देश-वासियों के लिए जगह-जगह खैरातखाने खुलवाना—यह सब आपके सच्चे देशप्रेम के स्मारक हैं। आप केवल महर्षि ही न थे, ऐसे देशभक्त भी थे, जिसने देश पर अपने आपको मिटा दिया हो। एक भाषण में फरमाते हैं—

'मेरे नौजवान दोस्तो! बलवान् बनो। तुम्हारे लिए मेरी यही सलाह है! तुम भगवद्गीता के स्वाध्याय की अपेक्षा फुटबाल खेलकर कहीं अधिक सुगमता से मुक्ति प्राप्त कर सकते हो। जब तुम्हारी रगें और पुट्ठे अधिक दृढ़ होंगे, तो तुम भगवद्गीता के उपदेशों पर अधिक अच्छी तरह चल सकते हो। गीता का उपदेश कायरों को नहीं दिया गया था; किन्तु अर्जुन को दिया गया था, जो बड़ा शूरवीर, पराक्रमी और क्षत्रिय-शिरोमणि था। कृष्ण भगवान् के उपदेश और अलौकिक शक्ति को तुम तभी समझ सकोगे, जब तुम्हारी रगों में खून कुछ और तेजी से दौड़ेगा।'

एक दूसरे व्याख्यान में उपदेश देते हैं—

'यह समय आनन्द में भी आँसू बहाने का नहीं। हम रो तो बहुत चुके। अब हमारे लिए नरक बनाने की आवश्यकता नहीं। इस कोमलता ने हमें इस हद तक पहुँचा दिया है कि हम रुई का गाला बन गये हैं। अब हमारे देश और जाति को जिन चीजों की जरूरत

है, वह है—लोहे के हाथ-पैर और फ़ौलाद के सारे पुट्ठे और वह दृढ़ संकल्पशक्ति जिसे दुनिया की कोई वस्तु रोक नहीं सकती; जो प्रकृति के रहस्यों की हद तक पहुँच जाती है और अपने लक्ष्य से कभी विमुख नहीं होती, चाहे उसे समुद्र की तह में जाना या मृत्यु का सामना क्यों न करना पड़े। महत्ता का मूलमंत्र विश्वास है—दृढ़ और अटल विश्वास, अपने आप और सर्व-शक्तिमान् जगदीश्वर पर विश्वास।'

स्वामीजी को अपने ऊपर जबरदस्त विश्वास था। स्वयं उन्हीं का कथन है—

'गुरुदेव के गले में एक फोड़ा निकल आया था। धीरे-धीरे उसने इतना उग्र रूप धारण कर लिया कि कलकत्ते के सुप्रसिद्ध डाक्टर बाबू महेन्द्रलाल सरकार बुलाये गये। उन्होंने परमहंसजी की हालत देखकर निराशा जतायी और चलते समय शिष्यों से कहा कि यह रोग संक्रामक है, इसलिए इससे बचते रहो और गुरुजी के पास बहुत देर तक न ठहरा करो। यह सुनकर शिष्यों के होश उड़ गये और आपस में कानाफूसी होने लगी। मैं उस समय कहीं गया था। लौटा तो अपने गुरुभाइयों को अति भयभीत पाया। कारण मालूम होते ही मैं सीधे अपने गुरुदेव के कमरे में चला गया। वह प्याली, जिसमें उनके गले से निकला हुआ मवाद रखा हुआ था, उठा ली, और सब शिष्यों के सामने बड़े इतमीनान से पी गया और बोला, देखो, मृत्यु क्योंकर मेरे पास आती है?'

स्वामीजी सामाजिक सुधारों के पक्के समर्थक थे, पर उनकी वर्तमान गति से सहमत न थे। उस समय

समाज-सुधार के जो यत्न किये जाते थे, वह प्रायः उच्च और शिक्षित वर्ग से ही सम्बन्ध रखते थे। परदे की रस्म, विधवा-विवाह, जाति-बन्धन—यही इस समय की सबसे बड़ी सामाजिक समस्याएँ हैं, जिनमें सुधार होना अत्यावश्यक है, और सभी शिक्षित वर्ग से सम्बन्ध रखती हैं। स्वामीजी का आदर्श बहुत ऊँचा था—अर्थात् निम्न श्रेणीवालों को ऊपर उठाना, उन्हें शिक्षा देना और अपनाना। यह लोग हिन्दू जाति की जड़ हैं और शिक्षित-वर्ग उसकी शाखाएँ। केवल डालियों को सींचने से पेड़ पुष्ट नहीं हो सकता। उसे हरा-भरा बनाना हो, तो जड़ को सींचना होगा। इसके सिवा इस विषय में आप कठोर शब्दों के व्यवहार को अति अनुचित समझते थे, जिनका फल केवल यही होता है कि जिनका सुधार करना है, वही लोग चिढ़कर ईंट का जवाब पत्थर से देने को तैयार हो जाते हैं, और सुधार का मतलब केवल यही रह जाता है कि निरर्थक विवादों और दिल दुखाने-वाली आलोचनाओं से पन्ने-के-पन्ने काले किये जायँ। इसी से तो समाज-सुधार का यत्न आरम्भ हुए सौ साल से ऊपर हो चुका और अभी तक कोई नतीजा न निकला।

स्वामीजी ने सुधारक के लिए तीन शर्तें रखी हैं। पहली यह कि देश और जाति का प्रेम उसका स्वभाव बन गया हो, हृदय उदार हो और देशवासियों की भलाई की सच्ची इच्छा उसमें बसती हो। दूसरी यह कि अपने प्रस्तावित सुधारों पर उसको दृढ़ विश्वास हो। तीसरी यह कि वह स्थिरचित्त और दृढ़निश्चय हो। सुधार के परदे में अपना कोई काम बनाने की दृष्टि न रखता हो और अपने सिद्धान्तों के लिए बड़े-से-बड़ा

कष्ट और हानि उठाने को तैयार हो, यहाँ तक कि मृत्यु का भय उसे अपने संकल्प से न डिगा सके। कहते थे कि ये तीनों योग्यताएँ जब तक हममें पूर्ण मात्रा में उत्पन्न न हो जायँ, तब तक समाज-सुधार के लिए हमारा यत्न करना बिलकुल बेकार है; पर हमारे सुधारकों में कितने हैं, जिनमें ये योग्यताएँ विद्यमान हों। फरमाते हैं—

'क्या भारत में कभी सुधारकों की कमी रही है? क्या तुम कभी भारत का इतिहास पढ़ते हो? रामानुज कौन थे? शंकर कौन थे? नानक कौन थे? चैतन्य कौन थे? दादू कौन थे? क्या रामानुज नीची जातियों की ओर से लापरवाह थे? क्या वह आजीवन इस बात का यत्न नहीं करते रहे कि चमारों को भी अपने सम्प्रदाय में सम्मिलित कर लें? क्या उन्होंने मुसलमानों को अपनी मण्डली में मिलाने की कोशिश नहीं की थी? क्या गुरु नानक ने हिन्दू-मुसलमान दोनों जातियों को मिलाकर एक बनाना नहीं चाहा था? इन सब महापुरुषों ने सुधार के लिए यत्न किये और उनका नाम अभी तक कायम है। अन्तर इतना है कि वह लोग कटुवादी न थे। उनके मुंह से जब निकलते थे, मीठे वचन ही निकलते थे। वह कभी किसी को गाली नहीं देते थे, किसी की निन्दा नहीं करते थे। निःसन्देह सामाजिक जीवन के सुधार के इन गुरुतर और महत्त्वपूर्ण प्रश्नों की हमने उपेक्षा की है और प्राचीनों ने जो मार्ग स्वीकार किया था, उससे विमुख हो गये हैं।'

सामाजिक सुधार के समस्त प्रचलित प्रश्नों में से स्वामीजी केवल एक के विषय में सुधारकों से सहमत

थे। बाल-विवाह और जनसाधारण की गृहस्थ-जीवन की अत्यधिक प्रवृत्ति को वह घृणा की दृष्टि से देखते थे, अतः रामकृष्ण मिशन की ओर से जो विद्यालय स्थापित किये गये, उनमें पढ़नेवालों के माँ-बाप को यह शर्त भी स्वीकार करनी पड़ती है कि बेटे का ब्याह १८ साल के पहले न करेंगे। वह ब्रह्मचर्य के जबरदस्त समर्थक थे और भारतवर्ष की वर्तमान भीरुता और पतन को ब्रह्मचर्यनाश का ही परिणाम समझते थे। आजकल के हिन्दुओं के बारे में अक्सर वह तिरस्कार के स्वर में कहा करते थे कि यहाँ भिखमंगा भी यह आकांक्षा रखता है कि ब्याह कर लूँ और देश में दस-बारह गुलाम और पैदा कर दूँ।

वर्तमान शिक्षा-प्रणाली के आप कट्टर विरोधी थे। आपका मत था कि 'शिक्षा जानकारी का नाम नहीं है, जो हमारे दिमाग में ठूँस दी जाती है; किन्तु शिक्षा का प्रधान उद्देश्य मनुष्य के चरित्र का उत्कर्ष, आचरण का सुधार और पुरुषार्थ तथा मनोबल का विकास है. . . .अतः हमारा लक्ष्य यह होना चाहिए कि हमारी सब प्रकार की लौकिक शिक्षा का प्रबन्ध हमारे हाथ में हो और उसका संचालन यथासम्भव हमारी प्राचीन रीति-नीति और प्राचीन प्रणाली पर किया जाय।

स्वामीजी की शिक्षा-योजना बहुत विस्तृत थी। एक हिन्दू विश्वविद्यालय स्थापित करने का भी आपका विचार था, पर अनेक बाधाओं के कारण आप उसे कार्यान्वित न कर सके। हाँ, उसका सूत्रपात अवश्य कर गये।

धर्मगत रागद्वेष का तो आपके स्वभाव में कहीं लेश

भी न था । दूसरे धर्मों की निन्दा और अपमान को बहुत अनुचित मानते थे। ईसाई धर्म, इसलाम, बौद्ध धर्म सबको समान दृष्टि से देखते थे। एक भाषण में हज़रत व ईसा को ईश्वर का अवतार माना था। अपने देश-वासियों को सदा इस बात की याद दिलाते रहते थे कि आत्मविश्वास ही महत्त्व का मूलमंत्र है। हमें अपने ऊपर बिलकुल भरोसा नहीं। अपने को छोटा और नीचा समझते हैं, इसी कारण दीन-हीन बने हुए हैं। हर अँगरेज समझता है कि मैं शूरवीर हूँ, साहसी हूँ और जो चाहूँ, कर सकता हूँ। हम हिन्दुस्तानी अपनी असमर्थता के इस हद तक कायल हैं कि मर्दानगी का ख्याल भी हमारे दिलों में नहीं पैदा होता है। जब कोई कहता है कि तुम्हारे पुरखे निर्बुद्धि थे, वह गलत रास्ते पर चले और इसी कारण तुम इस अवस्था को पहुँचे, तो हमको जितनी लज्जा होती है, उसका अनुमान भी नहीं किया जा सकता, और हमारी हिम्मत और भी टूट जाती है।

स्वामीजी इस तत्त्व को खूब समझते थे और किसी दूषित प्रथा के लिए अपने पूर्व-पुरुषों को कभी दोष नहीं देते थे। कहते थे कि हरएक प्रथा अपने समय में उप-योगी थी और आज उसकी निन्दा करना निरर्थक है। आज हम इस बात पर जोर दे रहे हैं कि साधु-समुदाय के अस्तित्व से हमारे देश को कोई लाभ नहीं, और हमारी दान-धारा को उधर से हटकर शिक्षा-संस्थाओं और समाज-सुधार के कार्यों की ओर बहना चाहिए। स्वामीजी इसे स्वार्थपरता मानते थे। और है भी ऐसा ही। साधु कितना ही अपढ़ हो, अपने धर्म और शास्त्रों से कितना ही अनभिज्ञ हो, फिर भी हमारे अशिक्षित

देहाती भाइयों की ज्ञान-पिपासा की तृप्ति और मनः-समाधान के लिए उसके पास काफी विद्या-ज्ञान होता है। उसकी मोटी-मोटी धर्म-सम्बन्धी बातें कितने ही दिलों में जगह पाती और कितनों के लिए कल्याण का साधन बनती हैं। अब अगर इनकी आवश्यकता नहीं समझी जाती, तो कोई ऐसा उपाय सोचना चाहिए, जिसमें उनका काम जारी रहे। पर हम इस दिशा में तो तनिक भी नहीं सोचते और जो रहा-सहा साधन है, उसे भी तोड़-फोड़कर बराबर किया चाहते हैं।

सारांश, स्वामीजी अपनी जाति के आचार-व्यवहार, रीति-नीति, साहित्य और दर्शन, सामाजिक जीवन, उसके पूर्वकाल के महापुरुष और पुनीत भारतभूमि सबको श्रद्धेय और सम्मान्य मानते थे। आपके एक भाषण का निम्नलिखित अंश सोने के अक्षरों में लिखा जाने योग्य है—

'प्यारे देशवासियो! पुनीत आर्यावर्त के बसने-वालो! क्या तुम अपनी इस तिरस्करणीय भीरुता से वह स्वाधीनता प्राप्त कर सकोगे, जो केवल वीर-पुरुषों का अधिकार है? हे भारतनिवासी भाइयो! अच्छी तरह याद रखो कि सीता, सावित्री और दमयन्ती तुम्हारी जाति की देवियाँ हैं। हे वीर पुरुषो! मर्द बनो और ललकारकर कहो, मैं भारतीय हूँ। मैं भारत का रहनेवाला हूँ। हर-एक भारतवासी, चाहे वह कोई भी हो, मेरा भाई है। अपढ़ भारतीय, निर्धन भारतीय, ऊँची जाति का भारतीय, नीची जाति का भारतीय सब मेरे भाई हैं। भारतीय मेरा भाई है। भारत मेरा जीवन, मेरा प्राण है। भारत के देवता मेरा भरण-पोषण

करते हैं। भारत मेरे बचपन का हिंडोला, मेरे यौवन का विलास-भवन और बुढ़ापे का बैकुण्ठ है। हे शंकर! हे धरती माता! मुझे मर्द बना। मेरी दुर्बलता दूर कर और मेरी भीरुता का नाश कर!"

स्वामीजी के उपदेशों का सार यह है कि हम स्व-जाति और स्वदेश के साथ अपने कर्तव्यों का पालन करें, आत्मबल प्राप्त करें, बलवान् और वीर बनें। नीची जातियों को उभारें और उन्हें अपना भाई समझें। जब तक ९० प्रतिशत भारतवासी अपने को दीन-हीन समझते रहेंगे, भारत में एका और मेल का होना सर्वथा असम्भव है। हम धर्म में आस्था रखें, पर संन्यासी-विरागी न बनें। हाँ, हम अपने एका के लिए सब प्रकार के त्याग करने को तैयार रहें। हम एक पैसा कमाएँ, पर उसे अपने सुख-विलास में खर्च न करें, राष्ट्रहित में लगा दें। हिन्दू तत्त्वज्ञान के कर्म-सम्बन्धी अंग का अनुसरण करें। शम, दम और तप, त्याग उन लोगों के लिए छोड़ दें, जिन्हें भगवान् ने इस उच्च पद पर पहुँचने की क्षमता प्रदान की है।

स्वामीजी की शिक्षा का आधार प्रेम और शक्ति है। निर्भीकता उसका प्राण है और आत्मविश्वास उसका धर्म है। उनकी शिक्षा में दुर्बलता और अनुनय-विनय के लिए तनिक भी स्थान नहीं था। उनका वेदान्त मनुष्य को सांसारिक दुःख-क्लेश से बचाने, जीवन-संग्राम में वीर की भाँति जुटने और मानसिक आध्यात्मिक आकांक्षाओं की पूर्ति की समान रूप से शिक्षा देता है।

○

स्वामी विवेकानन्द और पवहारी बाबा

स्वामी ब्रह्मेशानन्द

(रामकृष्ण मिशन सेवाश्रम, वाराणसी)

प्रत्येक महापुरुष के जीवन में साधना एवं प्रारम्भिक चरित्र-निर्माण के काल के बाद एक अन्तरिम काल उपस्थित होता है। यह अनिश्चितता एवं अन्तर्द्वन्द्व का काल कष्टप्रद होते हुए भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण होता है। विद्यार्थी, शिष्य अथवा साधक के रूप में अर्जित चारित्रिक, बौद्धिक एवं आध्यात्मिक सम्पदा का उपयोग भविष्य में किस प्रकार होगा, उनका परवर्ती दीर्घ जीवन किस दिशा में परिचालित होगा—इसका निर्णय इसी अल्प किन्तु अत्यन्त महत्त्वपूर्ण काल द्वारा निर्धारित होता है। श्रीरामकृष्ण की महासमाधि के बाद तीर्थाटनादि में व्यतीत किया गया एक वर्ष का समय माँ सारदा के जीवन का इसी तरह का अन्तरिम काल था। गुरुदेव के देहावसान के बाद परिव्राजक जीवन का उत्तरार्ध स्वामी विवेकानन्द के जीवन का वह अनिश्चित समय था, जिसमें उनकी भावी जीवनधारा की दिशा निर्धारित हुई थी। इसी अन्तराल में वे २१ जनवरी १८९० को गाजीपुर पहुँचे थे और लगभग ढाई महीने वहाँ रहे थे। उन्होंने गाजीपुर के प्रसिद्ध सन्त पवहारी बाबा के बारे में पहले ही सुन रखा था। अतः परिव्रजन करते हुए जब वे इलाहाबाद पहुँचे, तो स्वाभाविक ही उनके मन में पवहारी बाबा के दर्शनों की इच्छा जागी और वे गाजीपुर पहुँच गये। सौभाग्य से स्वामीजी के इस प्रवास का विस्तृत विवरण हमें उन्हीं के शब्दों में, पत्रों एवं वार्तालापों के माध्यम से प्राप्त है तथा वह स्वामीजी

के जीवन के इस काल के गुरुत्व को स्पष्ट रूप से प्रकट करता है।

(२)

पवहारी बाबा गाजीपुर शहर से कुछ मील दूर गंगा के किनारे एक मकान में रहते थे, जो चारों ओर ऊँची-ऊँची दीवारों से घिरा था। बाबाजी विरले ही किसी से मिलते अथवा वार्तालाप करते थे। यही कारण था कि स्वामीजी को उनसे साक्षात्कार करने के लिए लगभग दस-बारह दिन की प्रतीक्षा करनी पड़ी। वे उनके वासस्थान तक जाते, घण्टों बाहर बैठे रहते और असफल-मनोरथ वापस लौट जाते। उनके पत्रों से यह पता चलता है कि उनका प्रारम्भिक उद्देश्य केवल पवहारी बाबा के दर्शन एवं उनसे कुछ वार्तालाप करना ही था, क्योंकि जब कई दिनों तक वे बाबाजी के दर्शन प्राप्त नहीं कर सके, तो उन्होंने शीघ्र ही गाजीपुर त्यागकर वाराणसी के लिए प्रस्थान करना लगभग निश्चित कर लिया था। शुक्रवार, ३१ जनवरी १८९० के पत्र में स्वामीजी लिखते हैं, "...रविवार को वाराणसी धाम के लिए प्रस्थान करूँगा। यहाँ के लोग मुझे नहीं छोड़ रहे हैं, नहीं तो बाबाजी के दर्शन की अभिलाषा तो मेरी समाप्त हो चुकी है। आज ही मैं चला जाता। अस्तु, रविवार को प्रस्थान कर रहा हूँ।"[१]

लेकिन अचानक बाबाजी के दर्शन हो गये और सारा कार्यक्रम बदल गया। स्वामीजी बाबाजी के व्यक्तित्व, ज्ञान, भक्ति, विनम्रता एवं अद्भुत तितिक्षा

१. 'विवेकानन्द साहित्य', खण्ड १, पृ. ३५४।

से अत्यन्त प्रभावित हुए एवं उन्हें लगा कि इस महापुरुष से भी कुछ सीखा जा सकता है। बाबाजी ने भी कुछ आश्वासन दिया और स्वामीजी गाजीपुर ही ठहर गये। ४ फरवरी १८९० के पत्र में स्वामीजी प्रमदादास मित्र को लिखते हैं, "बड़े भाग्य से बाबाजी का दर्शन हुआ। वास्तव में वे महापुरुष हैं। बड़े आश्चर्य की बात है कि इस नास्तिकता के युग में भक्ति एवं योग की अद्भुत क्षमता के वे अलौकिक प्रतीक हैं। मैं उनकी शरण में गया और उन्होंने मुझे आश्वासन दिया, जो हर एक के भाग्य में नहीं। बाबाजी की इच्छा है कि मैं कुछ दिन यहाँ ठहरूँ, वे मेरा कल्याण करेंगे।"[२] और ७ फरवरी को लिखा, "जब कभी मैं हठ करता हूँ, तो वे मुझे ठहरने के लिए कहते हैं। आशा में अटका पड़ा हूँ।"[३] इस बीच स्वामीजी कमर के दर्द से पीड़ित थे और वह अब इतना बढ़ गया कि वे कुछ दिनों तक बाबाजी के पास जाने में असमर्थ हो गये।

इन अवसरों पर स्वयं बाबाजी स्वामीजी के पास किसी को भेजकर उनके स्वास्थ्य की खबर लेते थे। लेकिन जब बहुत दिन बीतने के बाद भी स्वामीजी बाबाजी से राजयोग सीखने एवं उनके ज्ञान-भण्डार से कुछ प्राप्त करने में असफल रहे, तो एक दिन उन्होंने सोचा कि सम्भवतः बाबाजी से दीक्षा ग्रहण करने पर इसका पथ सुगम हो जाएगा। जब यह निर्णय स्थिर हो गया तथा दूसरे दिन दीक्षा ग्रहण करना निश्चित कर लिया और जब उस दिन रात्रि को एकाकी खाट

२. वही।
३. वही, पृ. ३५५।

पर लेटे स्वामीजी इन्हीं बातों का चिन्तन कर रहे थे, तब अचानक उन्होंने श्रीरामकृष्ण को अपने दाहिनी ओर उपस्थित देखा। श्रीरामकृष्ण स्नेह एवं वेदनापूर्ण नेत्रों
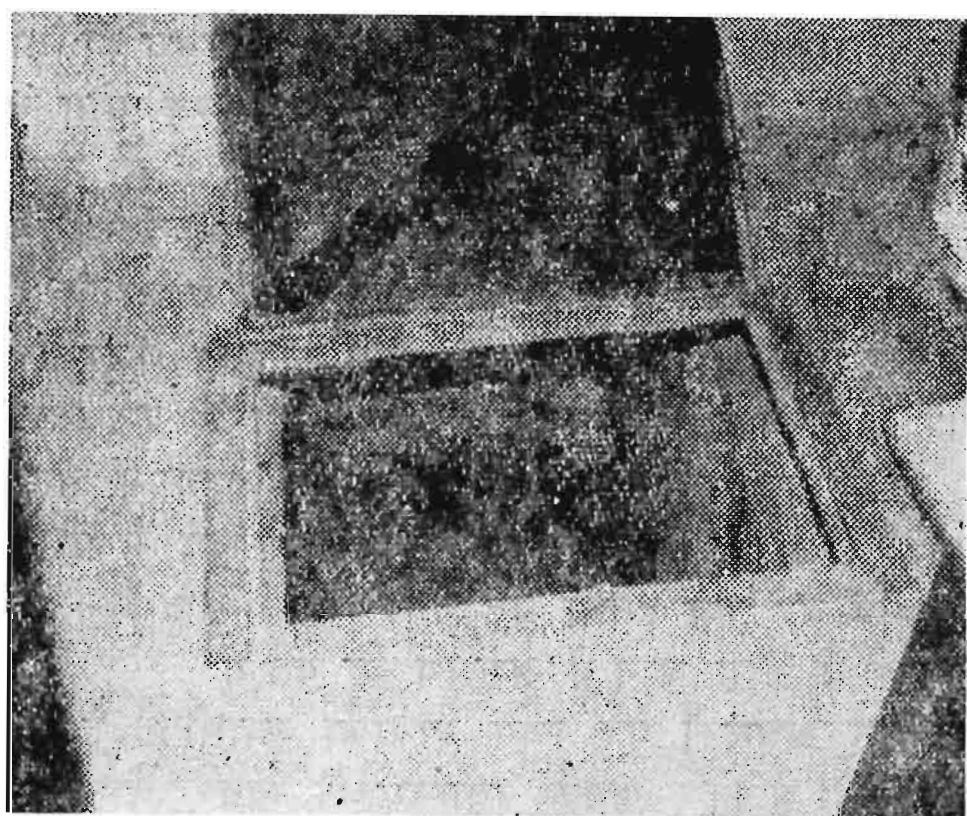
पवहारी बाबा की गुफा में उतरने का दरवाजा।

से स्वामीजी को एकटक देखते रहे। दो-तीन घण्टे तक रहने के बाद श्रीरामकृष्ण अचानक अदृश्य हो गये। इस दर्शन से स्वामीजी ने बाबाजी से दीक्षा लेने का संकल्प स्थगित कर दिया। दो-तीन दिन बाद पुनः यह संकल्प मन में जागा। पुनः श्रीरामकृष्ण का आविर्भाव हुआ और स्वामीजी को संकल्प त्यागना पड़ा। इस प्रकार

कई बार हुआ। अन्त में स्वामीजी ने यह सोचकर इस संकल्प को पूरी तरह त्याग दिया कि जब ऐसा बार-बार हो रहा है तो दीक्षा लेने से अकल्याण ही होगा।
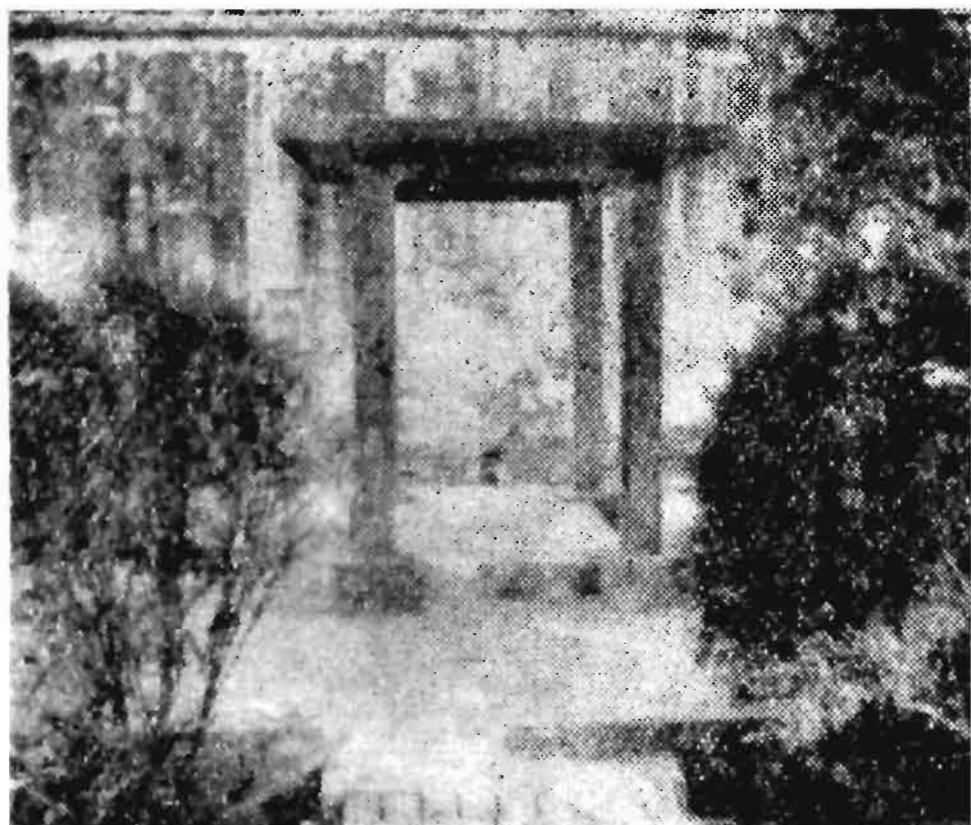
बड़ी चहारदीवारी के अन्दर चबूतरा जहाँ
बाबा बैठकर लिखते-पढ़ते थे।

अस्तु, बाबाजी से ज्ञान-लाभ में असफल-मनोरथ होने पर भी बाबाजी तथा स्थानीय भक्तों के स्नेह एवं आग्रह के कारण एक माह और गाजीपुर रहकर स्वामीजी ने अप्रैल के प्रारम्भ में वहाँ से प्रस्थान किया।

(३)

स्वामी विवेकानन्द के गाजीपुर-प्रवास के इस काल

का मूल्यांकन करने के पूर्व उनकी पवहारी बाबा के

पुराने पीपल के वृक्ष का तना वाला भाग, जिसके नीचे स्वामी विवेकानन्द बैठकर पवहारी बाबा से बात करते थे।
(तीनों चित्र डा केदारनाथ सिंह, गाजीपुर के सौजन्य से)

बारे में क्या धारणा थी, इसे जानने का प्रयत्न किया जाए। केशवचन्द्र सेन, विजयकृष्ण गोस्वामी आदि से लेकर त्रैलंग स्वामी, स्वामी भास्करानन्द आदि तत्कालीन भारत के अनेक धार्मिक महात्माओं के साथ स्वामी विवेकानन्द का साक्षात्कार हुआ था। बाद में पाल डायसन, मैक्समूलर आदि पाश्चात्य मनीषियों के साथ भी उनकी मुलाकात हुई थी, लेकिन पवहारी बाबा ही एकमात्र महापुरुष थे, जिन्हें उन्होंने गुरु के रूप में वरण करने का विचार किया था। उनसे ज्ञानार्जन में असफल होने पर भी स्वामीजी की पवहारी बाबा के प्रति श्रद्धा एवं भक्ति कभी कम नहीं हुई। यह कहना अतिशयोक्ति नहीं होगी कि स्वामीजी के हृदय में श्रीरामकृष्ण के बाद दूसरा स्थान पवहारी बाबा के लिए ही था।

पवहारी बाबा के देहत्याग के बाद स्वामीजी ने उनके विषय में 'ब्रह्मवादिन्' पत्रिका में १८९९ ई. में एक सुन्दर प्रबन्ध लिखा था। उसके अन्त में स्वामीजी ने लिखा—"वर्तमान लेखक इस परलोकगत महात्मा के प्रति परम ऋणी है। इस लेखक ने जिन श्रेष्ठतम आचार्यों से प्रेम किया है तथा जिनकी सेवा की है, उनमें से वे एक हैं। उनकी पवित्र स्मृति में मैं ये पंक्तियाँ, टूटी-फूटी चाहे जैसी भी हों, भक्तिपूर्ण अन्तःकरण से समर्पित करता हूँ।"[४]

वे कौन से गुण थे, कौन सी विशेषताएँ थीं, जिनके कारण स्वामीजी पवहारी बाबा से इतने प्रभावित हुए थे? ऊपर उल्लेखित प्रबन्ध के प्रारम्भ

४. 'पवहारी बाबा', द्वि.सं., रामकृष्ण मठ, नागपुर, पृ. २८।

में एक दीर्घ अवतरणिका के रूप में स्वामीजी कुछ महत्त्वपूर्ण सिद्धान्तों एवं आध्यात्मिक जगत् के कतिपय नियमों को प्रस्तुत करते हुए कहते हैं, "जिस परिमाण में मनुष्य इन्द्रियराज्य छोड़कर उच्च भावभूमि पर अवस्थान करने की क्षमता प्राप्त कर लेता है, जिस परिमाण में वह विशुद्ध चिन्तनरूपी वायु अपने भीतर खींचने में समर्थ हो जाता है तथा जितने अधिक समय तक वह उच्च अवस्था में रह सकता है, उसी परिमाण में वह अपनी उन्नति कर चुकता है। संसार में यह स्पष्ट रूप से दिखाई देता है कि सुसंस्कृत उन्नत व्यक्ति जीवन-निर्वाह के लिए नितान्त आवश्यक चीजों के अतिरिक्त तथाकथित ऐश-आराम में अपना समय गँवाना बिल्कुल पसन्द नहीं करते, और जैसे जैसे वे उन्नत होते जाते हैं, वैसे वैसे आवश्यक कर्म करने में भी उनका उत्साह कम होता जाता दिखाई देता है।"[५] निश्चय ही पवहारी बाबा ऐसे ही एक महापुरुष थे, जिन्होंने उच्चतर भावराज्य में विचरण करने के लिए जीवन-धारण हेतु आवश्यक वस्तुओं को भी अत्यन्त कम कर लिया था।

स्वामीजी आगे लिखते हैं— "हममें से अधिकांश लोग चिन्तनशीलता के साथ कार्य का सामंजस्य नहीं रख पाते। केवल थोड़े ही महानुभाव ऐसा कर सकते हैं। देखने में बहुधा यही आता है कि हममें से अधिकांश व्यक्ति जब गम्भीर मनन करने लग जाते हैं तो वे अपनी कार्यक्षमता खो बैठते हैं और इसी प्रकार जो लोग अधिक कार्य में व्यस्त हो जाते

५. वही, पृ. ४।

हैं, वे अपनी गम्भीर चिन्तनशक्ति गँवा बैठते हैं।"[६] स्वामीजी के अनुसार इन दोनों का गीतोक्त समन्वय ही पूर्ण आदर्श है। "परन्तु बहुत कम लोग इस आदर्श को प्राप्त करते हैं। अतएव वास्तविकता जो भी हो, हमें उसे ग्रहण करना ही होगा तथा इतने से ही सन्तुष्ट होना होगा कि हम विभिन्न व्यक्तियों में प्रकाशित पूर्णता के भिन्न भिन्न पहलुओं को एकत्र ग्रथित कर लें।

"धर्म के क्षेत्र में चार प्रकार के लोग होते हैं—गम्भीर चिन्तनशील (ज्ञानयोगी), दूसरों की सहायता के लिए प्रबल कर्मशील (कर्मयोगी), साहस के साथ आत्मानुभति प्राप्त कर लेने में अग्रसर (राजयोगी) तथा शान्त एवं विनम्र (भक्तियोगी)। प्रस्तुत लेख में हम जिनका चरित्र वर्णन करेंगे, वे एक असाधारण विनयसम्पन्न तथा श्रेष्ठ आत्मज्ञानी व्यक्ति थे।"[७] स्वामीजी के अनुसार वे योग, भक्ति एवं विनय की प्रतिमा थे। उनकी बोली अत्यन्त मधुर थी, लेकिन बात करते करते मानो उनके मुख से अग्नि के समान तेजस्वी वाणी निकलती थी।"[८] "उनकी विनय तथा सरलता में किसी प्रकार का कष्ट, यन्त्रणा अथवा आत्मग्लानि नहीं थी। वह पूर्ण रीति से स्वाभाविक थी।"[९] "...वे प्रत्यक्ष रूप से उपदेश नहीं दे सकते थे, क्योंकि ऐसा करना तो मानो आचार्य-पद ग्रहण करना हो जाता तथा

६. वही, पृ. ८-९।

७. वही, पृ. ९-११।

८. 'विवेकानन्द साहित्य', खण्ड १, पृ. ३५५।

९. 'पवहारी बाबा', पृ. २६।

स्वयं को मानो दूसरों की अपेक्षा उच्चतर आसन पर आरूढ़ कर लेने के सदृश हो जाता।"[१०] एक प्रश्न के उत्तर में बाबाजी ने कहा था, "तुम्हारी क्या ऐसी धारणा है कि केवल स्थूल शरीर द्वारा ही दूसरों की सहायता हो सकती है ? क्या शरीर के क्रियाशील हुए बिना केवल मन ही दूसरे मनों की सहायता नहीं कर सकता।"[११]

कर्मरहस्य के विषय में पवहारी बाबा के एक गुणविशेष एवं उपदेश से स्वामीजी विशेषरूप से प्रभावित हुए थे तथा उसे उन्होंने अपने सन्देश का एक अंग भी बनाया था। पवहारी बाबा जिस समय जो काम हाथ में लेते, वह चाहे जितना ही तुच्छ क्यों न हो, उसमें पूर्णतया मग्न हो जाते थे। उनका सिद्धान्त था——'जन साधन तन सिद्धि', अर्थात् ध्येय-प्राप्ति के साधनों एवं उपायों से वैसे ही प्रेम रखना चाहिए तथा उन पर वैसे ही ध्यान देना चाहिए मानो वे स्वयं ही ध्येय हों।

उनके लिए संसार के सभी प्राणी प्रभु या प्रभु के दूत थे, चाहे वह उनके घर में चोरी करने की नीयत से घुसा चोर हो या उनको डसनेवाला जहरीला साँप। सब प्रकार के शारीरिक दुःख उनके लिए अपने प्रियतम के पास से आये हुए दूत के समान ही थे। यद्यपि इन दुःखों से कभी कभी उन्हें अत्यन्त पीड़ा भी होती थी, तथापि यदि कोई दूसरा व्यक्ति इन दुःखों को किसी दूसरे नाम से सम्बोधित

१०. वही, पृ. २६।
११. वही, पृ. २३।

करता था, तो उन्हें बहुत ही असह्य हो जाता था।

पवहारी बाबा के व्यक्तित्व में अभिव्यक्त हुए इन गुणों एवं उनके उपर्युक्त कथनों का स्वामी विवेकानन्द पर गहरा प्रभाव पड़ा था। उनके सन्देश के विकास में उनकी निश्चित भूमिका भी स्वामीजी के उपदेशों के अवलोकन से अनुमित की जा सकती है।

उक्त लेख में अन्यान्य बातों के अलावा स्वामीजी ने विभिन्न स्रोतों मे प्राप्त जानकारी के आधार पर पवहारी बाबा की जीवनी एवं प्रमुख घटनाओं का वर्णन किया है।

पवहारी बाबा का स्वामीजी के प्रति क्या दृष्टिकोण था? बाबाजी के कमरे में श्रीरामकृष्ण का एक चित्र रहता था तथा वे श्रीरामकृष्ण को भगवदावतार मानते थे। उनकी श्रीरामकृष्ण के अवतारत्व की इस मान्यता का विशेष मूल्य है, क्योंकि पवहारी बाबा जैसे उच्च कोटि के योगी एवं सिद्ध महापुरुष ही श्रीरामकृष्ण की महानता का सही मूल्यांकन कर सकते हैं। यह भी सम्भव है कि अपनी सहज विनम्रता के कारण बाबाजी ने स्वामी विवेकानन्द को एक जिज्ञासु साधक के बदले अवतार के विशेष पार्षद के रूप में देखा हो एवं स्वामीजी को ज्ञान प्रदान करने में संकोच का अनुभव किया हो। यही नहीं, ३ मार्च १८९० के पत्र में तो स्वामीजी लिखते हैं, "पहले मैं उनके द्वार पर भिखारी था, पर अब वे ही मुझसे कुछ सीखना चाहते हैं।" [१२] स्वामीजी की अस्वस्थता के समय उनके पास आदमी भेजकर खोज-

१२. 'विवेकानन्द साहित्य', खण्ड १, पृ. ३६४।

खबर लेना स्वामीजी के प्रति उनके स्नेह का द्योतक है।

(४)

स्वामी विवकानन्द और पवहारी बाबा के प्रसंग में कुछ प्रश्न स्वाभाविक रूप से हमारे मन में उठते हैं। युगावतार श्रीरामकृष्ण के प्रियतम पार्षद होते हुए स्वामीजी पवहारी बाबा के सामने हाथ पसारने क्यों गये थे ? श्रीरामकृष्ण की कृपा से उन्हें अद्वैत ज्ञान की चरम अनुभूति के रूप में निर्विकल्प समाधि की प्राप्ति तो हुई थी ही, योगज अष्टादि सिद्धियाँ भी प्राप्त हुई थीं। तो फिर किस कमी की पूर्ति के लिए स्वामीजी पवहारी बाबा का शिष्यत्व ग्रहण करने को प्रस्तुत हुए थे ? और फिर श्रीरामकृष्ण ने बार बार दर्शन देकर उनके इस मनोरथ को क्यों पूरा नहीं होने दिया ? इन प्रश्नों का उत्तर स्वयं स्वामीजी के पत्रों एवं वार्तालापों से प्राप्त होता है। अपने शिष्य श्री शरत्चन्द्र चक्रवर्ती से वार्तालाप करते समय एक बार उन्होंने कहा था, "एक दिन मन में आया श्रीरामकृष्ण देव के पास इतने दिन रहकर भी मैंने इस रुग्ण शरीर को दृढ़ बनाने का कोई उपाय तो नहीं पाया। सुना है पवहारी बाबा हठयोग जानते हैं। उनसे हठयोग की क्रिया सीखकर देह को दृढ़ बनाने के लिए अब कुछ दिन साधना करूँगा।"[१३] अपने एक पत्र में उन्होंने लिखा था, "मेरा मूलमन्त्र है कि जहाँ जो कुछ भी अच्छा मिले सीखना चाहिए। इसके कारण वराहनगर में मेरे बहुत से गुरुभाई सोचते हैं कि मेरी गुरुभक्ति कम

१३. वही, खण्ड ६, पृ. ३११।

हो जाएगी । इन्हें मैं पागलों तथा कट्टरपन्थियों के विचार समझता हूँ, क्योंकि जितने गुरु हैं, वे सब एक उसी जगद्गुरु के अंश तथा आत्मस्वरूप हैं।"[१४]

स्वामी विवेकानन्द की जीवनी से परिचित लोग यह जानते हैं कि निरन्तर निर्विकल्प समाधि में डूबे रहने की तीव्र अभिलाषा स्वामीजी के हृदय में विद्यमान थी । काशीपुर में श्रीरामकृष्ण से इसी वस्तु के लिए स्वामीजी ने याचना की थी एवं यह अनुमान सहज ही लगाया जा सकता है कि पवहारी बाबा के निवृत्तिपरक जीवन में अपने ईप्सित जीवनादर्श को चरितार्थ होते देख उनके मन में एक बार फिर उस अवस्था की प्राप्ति की आकांक्षा जागी होगी, उस रत्नभण्डार को पुनः प्राप्त करने के लिए उनका मन फिर से लालायित हो गया होगा, जिसकी चाबी श्रीरामकृष्ण के पास सुरक्षित थी । श्रीरामकृष्ण का पुनः पुनः आविर्भाव इस बात का द्योतक था कि जब तक स्वामीजी माँ जगदम्बा का कार्य पूरा नहीं कर लेते तब तक चिरसमाधि की विश्रान्ति उनको प्राप्त नहीं हो सकेगी । एक बात और है । श्रीरामकृष्ण एक व्यक्तिविशेष तो हैं नहीं, वे तो आध्यात्मिक भावों के घनीभूत विग्रह हैं । उनके आविर्भाव का यह तात्त्विक अर्थ भी है कि उनके द्वारा प्रतिपादित नवीन आध्यात्मिक युगादर्श पवहारी बाबा के जीवन में प्रतिफलित पुरातन भारतीय आदर्शविशेष से मेल नहीं खाता । श्रीरामकृष्ण हठयोग के पक्षपाती नहीं थे । हठयोग साधक के देहात्मबोध को

१४. वही, खण्ड १, पृ. ३६७।

प्रबल बनाकर शरीरासक्ति में ही आबद्ध कर देता है । अतः यह कैसे सम्भव है कि इस सिद्धान्त के प्रचारक श्रीरामकृष्ण के शिष्य होकर स्वामीजी पवहारी बाबा से हठयोग सीखते ?

द्वितीयतः, पवहारी बाबा का जीवनादर्श एकांगी था, जब कि श्रीरामकृष्ण का भाव अधिक व्यापक, पूर्णतर एवं बहुमुखी है । श्रीरामकृष्ण कहा करते थे, "मैं सभी का आस्वादन करना चाहता हूँ, एकांगी नहीं होना चाहता ।" पवहारी बाबा की अपूर्णता का संकेत स्वयं स्वामीजी अपने ३ मार्च के पत्र में देते हुए लिखते हैं, "ऐसा लगता है कि यह सन्त अभी पूर्ण सिद्ध नहीं हुए हैं, क्योंकि ये बहुत से कर्म, व्रत, आचार इत्यादि में लिप्त हैं, और गुप्त भाव तो बहुत ही अधिक है । समुद्र पूर्ण होने पर कभी वेला-बद्ध नहीं रह सकता, यह निश्चित है ।"[१५] यह भी सम्भव है कि ज्ञान, भक्ति, योग एवं कर्म, इन चारों के पूर्ण एवं समन्वित अवतार श्रीरामकृष्ण के योग्य शिष्य स्वामीजी को देखकर स्वयं पवहारी बाबा को अपने जीवन की अपूर्णता का भान हुआ हो और उसकी पूर्ति के लिए वे स्वयं स्वामीजी के सामने याचक बने हों । श्रीरामकृष्ण ने अपने गुरुओं की अपूर्णता को दूर किया था, तो यदि स्वामीजी ने पवहारी बाबा को पूर्णता-प्राप्ति में सहायता प्रदान की हो तो इसमें आश्चर्य ही क्या है ? १३ मार्च १८९० के दिन या उसके पूर्व ही स्वामीजी इस निष्कर्ष पर पहुँच चुके थे कि पवहारी बाबा से

१५. वही, पृ. ३६४ ।

दीक्षा लेना सम्भव नहीं है, फिर भी वे पूरे एक महीने बाबाजी के स्नेहवश गाजीपुर रुके रहे । इस अवधि में बाबाजी ने स्वामीजी के माध्यम स श्रीरामकृष्ण की अनन्त भावराशि से कुछ अमूल्य रत्न अवश्य संग्रह किये होंगे । इतना सब होते हुए भी यह तो स्वीकार करना ही होगा कि इन दो अद्वितीय महापुरुषों का परस्पर सम्बन्ध अत्यन्त मधुर, गहरी समवेदनापूर्ण तथा एक दूसरे के प्रति आन्तरिक श्रद्धा एवं आदर के भाव से पूर्ण था।

(५)

इस प्रसंग का उपसंहार अत्यन्त मर्मस्पर्शी है, जिसके माध्यम से श्रीरामकृष्ण एवं स्वामी विवेकानन्द का अलौकिक स्नेह-सम्बन्ध बहुत स्पष्ट रूप से अभि-व्यक्त हुआ है । अपने ३ मार्च १८९० के पत्र में 'पुनश्च' करके लिखे गये अनुलेख में स्वामीजी लिखते हैं, "अतएव मैं इस निष्कर्ष पर पहुँचा हूँ कि श्रीरामकृष्ण की बराबरी का दूसरा कोई नहीं । वैसी अपूर्व सिद्धि, वैसी अपूर्व अकारण दया, जन्म-मरण से जकड़े हुए जीव के लिए वैसी प्रगाढ़ सहानुभूति इस संसार में और कहाँ ? या तो वे अपने कथनानुसार अवतार हैं, अथवा वेदान्त-दर्शन में जिन्हें नित्यसिद्ध महापुरुष 'लोकहिताय मुक्तोऽपि शरीरग्रहणकारी' कहा गया है, वे हैं, निश्चित, निश्चित, इति मे मतिः । . . . अपने जीवनकाल में उन्होंने मेरी कोई भी प्रार्थना नहीं ठुकरायी, मेरे लाखों अपराध क्षमा किये । मेरे माता-पिता में भी मेरे लिए इतना प्रेम न था । इसमें कोई कविजनसुलभ अतिशयोक्ति नहीं है ।"[१६]

१६. वही, पृ. ३६५-६६ ।

इसी गाजीपुर-प्रसंग एवं श्रीरामकृष्ण के बारम्बार दर्शन का स्मरण कर स्वामीजी ने 'गाता हूँ गीत मैं तुम्हें ही सुनाने को' शीर्षक कविता भी लिखी है। भावावस्था में लिखी गयी स्वामीजी की कविताओं में यह अन्यतम एवं अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इस कविता में स्वामीजी लिखते हैं :

"बाल केलि करता हूँ तुमसे मैं,
और क्रोध करके देव
तुमसे किनारा कर जाना कभी चाहता हूँ,
किन्तु निशा काल में
शय्या के शिरोभाग में
देखता हूँ तुमको मैं खड़े हुए--
चुपचाप,—आँखें छलछलायी हुईं,
हेरते हो मेरे तुम मुख की ओर।
उसी समय बदल जाता भाव मेरा,
पैरों पड़ता हूँ
पर क्षमा नहीं माँगता;
तुम नहीं करते हो रोष।
पुत्र हूँ तुम्हारा, कहो,
और कोई कैसे इस प्रगल्भता को
सहन कर सकता है ?
प्रभु हो तुम मेरे
तुम प्राण सखा मेरे हो।
कभी देखता हूँ—
तुम मैं हो, मैं तुम हूं !"[१७]

इसी में स्वामीजी श्रीरामकृष्ण के प्रति अपने समर्पण

१७. 'कवितावली', रामकृष्ण मठ, नागपुर, १९४९, पृ. ८९।

को पुनः दुहराते हैं :

"...दया के सागर तुम
दास हूँ तुम्हारा जन्म-जन्म का मैं,
...भक्ति पूर्वक सुनता यह दास
है तत्पर सदा ही
पूर्ण करने को तुम्हारा काम।"[१८]

कविता की इन पंक्तियों में श्रीरामकृष्ण एवं स्वामीजी का घनिष्ठ प्रेम-सम्बन्ध अत्यन्त प्रभावशाली ढंग से व्यक्त हुआ है। श्रीरामकृष्ण पिता हैं, स्वामीजी पुत्र; अथवा वे स्वामी हैं और स्वामीजी दास; फिर एक अवस्था में स्वामीजी श्रीरामकृष्ण के साथ अपना एकत्व भी अनुभव करते हैं।

लेकिन इस घनिष्ठ सम्बन्ध की अनुभूति के अतिरिक्त और भी किसी गूढ़ सत्य का रहस्योद्घाटन गाजीपुर-प्रसंग के पटाक्षेप के रूप में हुआ था। स्वामीजी के बँगला जीवनीकार स्वामी गम्भीरानन्दजी का भी मत है कि श्रीरामकृष्ण के आविर्भाव के साथ और भी कुछ हुआ था, जिसे स्वामीजी ने कभी प्रकट नहीं किया।[१९] श्रीरामकृष्ण अपने अन्तरंग शिष्यों से तीन बातें भली प्रकार जान लेने को कहा करते थे : मैं (श्रीरामकृष्ण) कौन हूँ ? तुम (शिष्य) कौन हो ? और हम दोनों का सम्बन्ध क्या है ? गाजीपुर में बारम्बार श्रीरामकृष्ण के दर्शन पाकर स्वामीजी को उनके साथ अपने नित्य अभिन्न सम्बन्ध

१८. वही, पृ. ८, १२।

१९. स्वामी गम्भीरानन्द: 'युगनायक विवेकानन्द' (बँगला), भाग १, कलकत्ता, प्र.सं., २६१।

की अनुभूति के साथ साथ उनके तथा अपने स्वरूप की भी स्पष्ट उपलब्धि हुई थी। श्रीरामकृष्ण के दिव्यत्व की उपलब्धि के बिना उनसे पिता-पुत्र अथवा स्वामी-दास का सम्बन्ध एक अर्थहीन लौकिक सम्बन्ध मात्र होकर रह जाता है। उपर्युक्त कविता के अनेक अंश इस बात का संकेत देते हैं कि स्वामीजी ने श्रीरामकृष्ण का अन्तर्यामी परमात्मा के रूप में साक्षात्कार किया था, यथा :

"रूप तुम्हारा ही सब घटों में विराजमान"

या फिर उन्होंने श्रीरामकृष्ण का विश्वरूप ही तो नहीं देखा ?

"सिन्धु नाद जैसा तुम्हारा हुंकार है
सूर्य और चन्द्र में हैं वचन तुम्हारे देव,
मृदुमन्द पवन तुम्हारा अलाप है,..."[२०]

और उसके बाद स्वामीजी सूर्य-चन्द्रयुक्त विराट् सृष्टि, देव-यक्ष-मानवादि जीवगण, मन-बुद्धि आदि आन्तर जगत् का वर्णन कर उस अवस्था की कल्पना करते हैं, जहाँ इन सबके विलीन होने पर केवल श्रीरामकृष्ण का सुन्दर अनाहत नाद रह जाता है। इन पंक्तियों को पढ़कर तो यह प्रतीत होता है कि श्रीरामकृष्ण ने स्वामीजी को दिव्य चक्षु प्रदान कर अपने इन्द्रियातीत, जगदातीत एवं अन्तर्यामी दोनों रूपों का प्रत्यक्ष अनुभव प्रदान किया था !

और अन्त में स्वामीजी अद्वैतानुभूति की अभिव्यक्ति में मुखर हो उठते हैं :

"मैं ही विद्यमान हूँ
प्रलय के समय में

२०. 'कवितावली', पृ. ८-९।

अनन्त ब्रह्माण्ड ग्रास करके जब
ज्ञान-ज्ञेय-ज्ञाता मिट जाते हैं. . .
मैं विकसित फिर होता हूँ।. . .
आदि कवि मैं ही हूँ
मेरी ही शक्ति के रचना-कौशल में है,
जड़ और जीव सारे. . .।"[२१]

श्रीरामकृष्ण की कृपा से स्वामीजी को ये गहरी अनुभूतियाँ हुई थीं, यही कारण था कि इस घटना के बाद स्वामीजी के मन में अपने जीवनोद्देश्य एवं श्रीरामकृष्ण के स्वरूप के विषय में कभी कोई संशय नहीं उठा। अतः वे ३ मार्च के अपने पत्र में निश्चय-पूर्वक लिख सके थे, "अब किसी बड़े आदमी के पास न जाऊँगा।"[२२] कमलाकान्त के गीत की कड़ी दुहराते हुए वे मानो कहना चाहते हैं कि पारस-मणि तो उनके पास ही है, इधर-उधर भटकने से क्या लाभ ? इस चरम अनुभूति तथा जीवन पर्यन्त के लिए उद्देश्य की स्थिरता का श्रेय पवहारी बाबा के साथ उनके सम्पर्क को ही दिया जाना चाहिए, जिसने श्रीरामकृष्ण को अपने प्रियतम पार्षद पर कृपा करने को बाध्य किया।

खेद है कि जिस भवन में स्वामीजी को ये उच्च-तम अनुभूतियाँ हुई, सम्भवतः जिस वृक्ष के नीचे बैठकर उन्होंने इस अपूर्व भावव्यंजक कविता की रचना की, वे आज भी उपेक्षित और असंरक्षित पड़े हुए हैं। ○

२१. वही, पृ. १२,१४।
२२. 'विवेकानन्द साहित्य', खण्ड १, पृ. ३६५।

हमें स्वामीजी का अनुसरण करना होगा

जयप्रकाश नारायण

(जे.पी. के रूप में सुपरिचित लोकनायक जयप्रकाश नारायण ने १७ फरवरी १९५२ ई. को रामकृष्ण मिशन, नयी दिल्ली में आयोजित स्वामी विवेकानन्द जयन्ती सभा की अध्यक्षता करते हुए हिन्दी में विचारोत्तेजक व्याख्यान दिया था। वही अँगरेजी में अनूदित हो 'प्रबुद्ध भारत' के मई १९५२ अंक में प्रकाशित हुआ था, जिसे मूल हिन्दी व्याख्यान उपलब्ध न होने के कारण पुनः हिन्दी में अनुवादित कराकर प्रस्तुत लेख के रूप में प्रकाशित किया जा रहा है। अनुवादक हैं स्वामी विदेहात्मानन्द। ––स०)

स्वामी विवेकानन्द सत्यद्रष्टा महान् ऋषियों की कोटि के थे। उनकी प्रज्ञा महान् थी, पर उससे भी महान् था उनका हृदय। बेलुड़ मठ में एक बार उन्होंने अपने शिष्यों से कहा था कि यदि कभी बुद्धि और हृदय में द्वन्द्व पैदा हो तो बुद्धि को छोड़कर हृदय का ही अनुसरण करना होगा। हमारे देश में अनेक सन्तों का जन्म हुआ है। उनमें से कुछ को ऐसा लगा कि हिमालय की कन्दराओं में जाकर आत्म-चिन्तन करना ही सच्चा मार्ग है। स्वामी विवेकानन्द भी इसी परम्परा से प्रभावित हुए थे और उनकी किशोरावस्था में उनके मन में भी यह अन्तर्द्वन्द्व उठा था––उनकी बुद्धि परम्परागत आत्मदर्शन में डूब जाने को व्यग्र थी, जबकि उनका हृदय आसपास के लोगों के दुःख से विगलित हो रहा था। अन्त में उन्होंने निश्चय किया कि मैं अपना एकान्तवास छोड़ प्रत्येक जीव की आत्मा में प्रविष्ट होकर उनकी सेवा के माध्यम से ईश्वर का पूजन करूँगा। निर्धन और पिछड़े लोगों को स्वामीजी की ओर खींचने वाला

उनका करुणामय हृदय है, जो उन लोगों के लिए सदैव द्रवित होता रहता था और जो उन्तालीस वर्ष के संक्षिप्त जीवनकाल में उनकी निरन्तर सेवा से क्लान्त हो गया था। अपने हृदय की इसी व्यथा के आवेग में १८९७ ई. में मद्रास के अपने उस चिर-स्मरणीय सन्देश में वे कह उठे थे—

"ऐ मेरे भावी सुधारको, मेरे भावी देशभक्तो, तुम अनुभव करो। क्या तुम अनुभव करते हो? क्या तुम हृदय से अनुभव करते हो कि देव और ऋषियों की करोड़ों सन्तानें आज पशुतुल्य हो गयी हैं? क्या तुम हृदय से अनुभव करते हो कि लाखों आदमी आज भूखों मर रहे हैं और लाखों लोग शताब्दियों से इसी भाँति भूखों मरते आये हैं? क्या तुम अनुभव करते हो कि अज्ञान के काले बादल ने सारे भारत को ढक लिया है? क्या तुम यह सब सोचकर बेचैन हो जाते हो? क्या इस भावना ने तुमको निद्राहीन कर दिया है? क्या उसने तुम्हें पागल-सा बना दिया है?"

अपने मानव-बन्धुओं और विशेषकर अपने देश-वासियों के आध्यात्मिक तथा भौतिक दारिद्रच एवं पीड़ा की टीस का अनुभव करते हुए वे नैतिक ऊर्जा के एक तूफान के रूप में सारे विश्व में संचरण करते रहे और उनके जीवन के अन्तिम काल तक इसने उन्हें चैन नहीं लेने दिया। अपनी इन भावनाओं से अभिभूत होकर ही उन्होंने प्राच्य एवं पाश्चात्य देशों का विजय-अभियान किया तथा रामकृष्ण मठ एवं मिशन की स्थापना की। उनका जीवन प्रेम और पवित्रता से

परिपूर्ण था; इस जगत् में उनका उदय और अस्त द्रुत और अचानक हुआ था । परन्तु उन्तालीस वर्ष के अपने इस संक्षिप्त जीवनकाल में उन्होंने जनमानस में नयी चेतना और नयी आशा जगाने और दृढ़प्रतिष्ठ करने की दिशा में इतना कुछ किया कि हमें अपने महान् देश के इतिहास में सम्भवतः शंकराचार्य के अतिरिक्त उनकी बराबरी का दूसरा कोई नहीं मिलता ।

आज हम अपने ही ढंग से एक अभिनव भारत के निर्माण में जुटे हैं । अब हमें स्वामीजी की शक्ति और उनके सान्निध्य की आवश्यकता का बोध हो रहा है । यह सत्य है कि स्वामीजी आज हमारे बीच नहीं हैं, परन्तु उनके शब्द---उनके उपदेश अब भी विद्यमान हैं । हमारे देश में इस समय अज्ञान और दरिद्रता का साम्राज्य फैला है । (इसके निवारणार्थ) स्वामीजी ने हमें हमारी सांस्कृतिक एवं आध्यात्मिक विरासत पर आधारित एक मन्त्र दिया है, एक नवीन मार्ग बताया है, एक नया धर्म दिया है और वह है—सहिष्णुता, विश्व-बन्धुत्व और मानवजाति के समत्व का धर्म । हमें अपने देश में विविध प्रकार की क्रान्तियाँ देखने को मिली हैं, परन्तु इन समस्त महा परिवर्तनों के बीच भी हम अपनी संस्कृति की आत्मा की सर्वदा रक्षा करते आये हैं । अपनी सभ्यता-संस्कृति की इस आत्मा को त्यागकर हम आगे नहीं बढ़ सकते, एक प्रगतिशील राष्ट्र नहीं बन सकते । सम्भव है कि कुछ प्रतिभा-शाली लोग अकेले ही ठीक पथ पर चल सकें, परन्तु बाकी लोगों के लिए यह आवश्यक है कि वे हमारी प्राचीन संस्कृति से प्रेरणा ग्रहण करें । स्वामीजी ने

यही करने का प्रयास किया । उनके काल में हमारे देश में हमें दुर्बल बनानेवाली अनेक शक्तियाँ सक्रिय थीं । वे चाहते थे कि इन्हें दूर कर एक कर्मठ राष्ट्रीय संस्कृति की स्थापना हो । अतः उनका सन्देश था कि हम अपनी इस संस्कृति की गोद में ही लालित-पालित हों और इससे हमारा राष्ट्र बलवान् और शक्तिशाली होगा ।

हम अपने राष्ट्र का निर्माण करना चाहते हैं, पर यह कैसे करें यही समस्या है । मेरा तो यह दृढ़ विश्वास है कि जब तक हमारे देश में एक धार्मिक पुनर्जागरण नहीं आता, तब तक हम प्रगति नहीं कर सकते । हम एक ऐसे धर्म का नियंत्रण चाहते हैं, जो अन्य सभी धर्मों को स्वीकार करता हो और स्वामीजी ने महान् वेदान्त के रूप में हमें वह दिया है । निःसन्देह वेदान्त हमारे देश के लिए नया नहीं है, परन्तु हमारे पास उसमें प्रवेश करने के साधन नहीं थे, हम उसका उपयोग नहीं कर सके थे, व्यवहार में नहीं ला सके थ । हमें बुद्ध के प्रेम एवं व्यावहारिकता की तथा वेदान्त के तत्त्वज्ञान की आवश्यकता है । अपने मद्रास के एक व्याख्यान में स्वामीजी ने कहा था कि मैं एक ऐसा सन्देश दूँगा, जो न केवल हमारे अपने देश के लिए वरन् बाहर के देशों के लिए भी उपयोगी होगा । अपने उपदेशों को प्रभावी बनाने तथा उनका जनसाधारण में प्रचार करने के लिए जैसे बुद्धदेव ने संन्यासी संघ का गठन किया था, वैसे ही स्वामीजी ने भी महान् रामकृष्ण मिशन प्रारम्भ किया । यह गर्व और आनन्द की बात है कि मिशन

के केन्द्रों के कार्य द्वारा उनके आदर्श एवं लक्ष्य को रूपायित किया जा रहा है, उनकी कल्पनाओं को साकार किया जा रहा है । इस प्रकार वेदान्त निर्धन के पास सहायता के रूप में, अशिक्षित के पास शिक्षा के रूप में और दलित के पास उत्थान के रूप में जा रहा है ।

हमारी जातियों, सम्प्रदायों और मतवादों की अनेकता ही हमारे देश की सबसे बड़ी समस्या है। क्या हम इन भेदों को मिटा सकते हैं ? क्या हम उन्नति करके शक्तिसंग्रह कर सकते हैं ? स्वामीजी ने जातिभेद की तीव्र आलोचना की है । हमारी सामाजिक दुर्बलता के लिए उन्होंने इसी को बहुत कुछ उत्तरदायी ठहराया है । बहुत पहले हमारी सामाजिक एकता छिन्न-भिन्न हो गयी थी, जिसके फलस्वरूप हमने एक हजार वर्ष तक दुःख-दुर्दशा का भोग किया । स्वामीजी ने तत्कालीन प्रचलित धार्मिक प्रथाओं को खेदपूर्वक 'रसोईघर का', 'भात की हाँड़ी का', 'हमें-न-छूओवाद का' धर्म कहा था । उन्होंने स्पष्ट रूप से घोषणा की थी कि जब तक हम लोग ऐसे धर्म में जकड़े हैं, तब तक मानव-एकता की शिक्षा देनेवाले वास्तविक धर्म से हम दूर रहेंगे । हमें जरूरत है एकता की, पर हमारा सब कुछ हममें भेद पैदा करनेवाला है । ब्राह्मण ब्रह्मविद्या में लीन रहता है, परन्तु यदि उसका पुत्र व्यवसाय अथवा और कुछ करे तो भी वह ब्राह्मण ही माना जाता है, केवल इस कारण कि वह ब्राह्मण के घर जन्मा है !

यदि देश को प्रगति करनी है तो हमें धर्म का

तात्पर्य समझकर उस पर चलना होगा। केवल जन्म को नहीं, वरन् गुण अथवा ब्राह्मणत्व को महानता का मापदण्ड बनाना होगा। हमारे धर्म के आदर्शानुसार एक म्लेच्छ भी सर्वोच्च अवस्था प्राप्त कर सकता है। वेदान्त के मूलभूत तत्त्व को आधार बनाकर स्वामीजी ने 'रसोईघर-धर्म' को निरुत्साहित किया और मानव-मानव के बीच समानता की घोषणा की। भेद केवल अभिव्यक्ति में है, मूलभूत ब्रह्म में नहीं है। सभी को सर्वोच्च तक पहुँचाया जा सकता है, सबमें महानतम होने की क्षमता है। इस टानिक के द्वारा हमारी सारी दुर्बलता, सारी अज्ञता दूर की जा सकती है। वेदान्त के इस महान् आदर्श के आधार पर हम एक समाज का—एक सभ्यता का निर्माण कर सकते हैं। मेरा तो यह विश्वास है यदि हम सच्चे दिल से प्रयास करें तो सफलता अवश्यम्भावी है। यदि इस आदर्श का देश में प्रचार किया जाय, तो कौन हिन्दू इसे अस्वीकार करेगा? ऐसा कौन विदेशी है जो अपनी इस अन्तर्निहित दिव्यता की पुकार का उत्तर न देगा? हमें यह समझ लेना होगा कि जाति तथा अन्य भेदों द्वारा उत्पन्न हमारी यह सांस्कृतिक, सामाजिक तथा राजनीतिक विच्छिन्नता स्वामी विवेकानन्द के वैदान्तिक सन्देश के द्वारा ही दूर हो सकती है। इसी सन्देश के द्वारा हम हिन्दू-मुस्लिम समस्या का भी समाधान कर सकेंगे। इसी के आधार पर निर्धनता का प्रश्न भी हल किया जा सकता है। जब एक सुखी समाज की स्थापना ही हमारा स्वप्न है, तब ऐसा नहीं होना चाहिए कि कुछ ही लोग सम्पन्न हों और अधिकांश निर्धन बने रहें। पचास वर्ष पूर्व ही स्वामीजी ने

इस आर्थिक वैषम्य का समाधान ढूँढ़ निकाला था। अपने एक पत्र में वे लिखते हैं कि मैं समाजवादी हूँ। उन्हें ब्रह्मविद्या में जो एकता एवं समानता दीख पड़ी थी, उसे वे राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था तथा अन्य सामाजिक क्षेत्रों में स्थापित करना चाहते थे। आज राजा, जमींदार और सम्पन्न वर्ग श्रमजीवी को तुच्छ मानता है, पर यह स्वामीजी की शिक्षा के बिल्कुल विपरीत है। उन्होंने कहा था, "वे लोग तुमसे एक हैं। एक ही ब्रह्म उनके और तुम्हारे माध्यम से प्रतिभात हो रहा है।" अद्वैत वेदान्त में उन्हें जिस एकता का अस्तित्व दीख पड़ा था, मानव के व्यक्तित्व में उन्हें जिस समानता की अनुभूति हुई थी, उसी को वे आर्थिक और सामाजिक क्षेत्र में भी अपनाना चाहते थे। उन्होंने अपने चारों ओर भूखे और नंगे लोगों को देखा और महसूस किया कि जब तक उन्हें खाने-पहनने को नहीं मिलता, उनमें धर्मप्रचार करना व्यर्थ है; आम लोगों के कल्याण पर ही धर्म की दृढ़ भित्ति स्थापित हो सकती है। अतः आज हमारा हृदय स्वामीजी के समक्ष अवनत हो जाता है। मैं स्वामीजी का अध्येता हूँ। मैं उनके बारे में कुछ कहने के योग्य नहीं हूँ, पर यह मैं उनमें देखता हूँ और उनसे सीखता हूँ। वे पार चले गये और हमें भी पार ले जाना चाहते थे। उन्होंने हमारी जो कमजोरी देखी, वह तिरस्कार की आँख से नहीं, पर सहानुभूति के साथ, सेवा की उत्कट भावना के साथ, हमारी गिरी अवस्था के प्रति टीस का अनुभव करते हुए। अपने उसी पत्र में वे समाजवाद का समर्थन करते तो हैं, पर उसे एक पूर्णतः निर्दोष व्यवस्था मानकर नहीं, वरन् यह मानकर कि

'नहीं मामा से काना मामा अच्छा है'।

धर्म, संस्कृति, अर्थशास्त्र, समाजशास्त्र—हर क्षेत्र में मैं स्वामी विवेकानन्द को अगुआ मानता हूँ। इन सभी को हमें अपने प्राचीन युक्तिपूर्ण दर्शन—वेदान्त—की दृढ़ नींव पर स्थापित करना होगा। यदि हम इस बात को विस्मृत कर दें और अपनी ऐतिहासिक विरासत की नींव पर राष्ट्र की रचना न करें, तो भारत भारत नहीं रह जाएगा। हमें स्वामीजी से प्रेरणा लेकर रामकृष्ण मिशन का सहयोग लेते हुए सच्चे हृदय से अपने तथा अपने असंख्य देशवासियों के जीवन को परिपूर्ण और समृद्ध बनाने के लिए कार्य करना होगा। हमारी अपनी व्यक्तिगत अनुभूति से हमारी प्रगति पूरी नहीं होगी, बल्कि हमें दूसरों के लिए भी स्वाधीनता की पूर्णता लाने के लिए कार्यशील होना होगा। हम सबको स्वामी विवेकानन्द के सन्देश के इस पहलू को समझना होगा और यह देखना होगा कि हमारे गाँव, हमारे देश, हमारे भाइयों तथा बहनों को पीड़ित करनेवाली समस्याओं पर विचार और उनके समाधान कहीं धर्म के क्षेत्र से बहिष्कृत न हो जायँ। यदि हम स्वामी विवेकानन्द के उपदेशों के अनुसार जीवन-यापन और कार्य करें, तो इन समस्याओं का हल सफलतापूर्वक किया जा सकता है।

○

स्वामी विवेकानन्द

डा० सर्वपल्ली राधाकृष्णन्

(दिल्ली में स्वामीजी के ९२वें जन्म-महोत्सव के उपलक्ष में २१ फरवरी १९५४ को आयोजित समारोह में सभापति की आसन्दी से डा० राधाकृष्णन् ने अँगरेजी में जो भाषण दिया था, प्रस्तुत लेख उसी का हिन्दी अनुवाद है और उनके ग्रन्थ 'भारत और विश्व' से साभार गृहीत हुआ है। अनुवादक हैं श्री गोवर्धन भट्ट, पीएच.डी.।—स०)

स्वामी विवेकानन्द के जीवन और उपदेशों ने हमें आजादी के इस नये युग के लिए तैयार किया है। उनसे हमको यह शिक्षा मिलती है कि हाल में हमने जो आजादी हासिल की है उसे हम अच्छे से अच्छे तरीके से कैसे पुष्ट करें। स्वामी विवेकानन्द भारतीय पुनर्जागरण के एक महान् नेता थे।

भारत के सभी महान् उपदेशकों के समान विवेकानन्द ने भी एक नये मत को चलाने का दावा नहीं किया। उन्होंने हमारे और दुनिया के कल्याण के लिए भारत की धार्मिक चेतना की, उसके अतीत ज्ञान-कोष की ही व्याख्या की। उनके लेख और भाषण भारतीय धर्मशास्त्रों और अपने गुरु, परमसिद्ध श्रीरामकृष्ण के जीवन और उपदेशों से लिये गये उद्धरणों से भरे पड़े हैं।

हमारे युग की दो प्रमुख विशेषताएँ विज्ञान और लोकतंत्र हैं। ये दोनों टिकाऊ हैं। हम शिक्षित लोगों को यह नहीं कह सकते हैं कि वे तार्किक प्रमाण के बिना धर्म की मान्यता को स्वीकार कर लें। जो कुछ भी हमें मानने के लिए कहा जाय, उसे उचित और तर्क के बल से पुष्ट होना चाहिए। अन्यथा हमारे धार्मिक विश्वास

इच्छापूरक विचार मात्र रह जाएँगे। आधुनिक मानव को एक ऐसे धर्म के अनुसार जीवन बिताने की शिक्षा देनी चाहिए जो उसकी विवेक-बुद्धि को जँचे, विज्ञान की परम्परा के अनुकूल हो। इसके अतिरिक्त, धर्म को लोकतंत्र का, जो कि वर्ण, विश्वास, सम्प्रदाय या जाति का विचार न करते हुए प्रत्येक मनुष्य के बौद्धिक और आध्यात्मिक विकास के ऊपर जोर देता है, पोषक होना चाहिए। कोई भी ऐसा धर्म जो मनुष्य-मनुष्य में भेद करता है अथवा विशेषाधिकार, शोषण, युद्ध का समर्थन करता है, आज के मानव को नहीं रुच सकता।

आज हम जो धर्म के लोप, दिव्य प्रकाश के तिरोभाव के युग में से गुजर रहे हैं, तो इसका कारण यह है कि प्रचलित धर्म विज्ञान और लोकतंत्र के प्रतिकूल मालूम पड़ते हैं।

विवेकानन्द ने यह सिद्ध किया कि हिन्दू-धर्म विज्ञान-सम्मत भी है और लोकतंत्र का समर्थक भी, प्रचलित हिन्दू-धर्म नहीं, जो कि दोषों से भरपूर है, बल्कि वह हिन्दू-धर्म जो कि हमारे महान् प्रचारकों को अभिप्रेत था।

जीवन की यदि कोई बात बिल्कुल निर्विवाद है तो वह है उसकी अस्थिरता। इस संसार की हरेक वस्तु, लिखित शब्द, चित्र, प्रस्तर-प्रतिमा, वीरता-पूर्ण कार्य, नाशवान् है। बड़ी-बड़ी सभ्यताएँ काल-कवलित हो जाती हैं। एक दिन आएगा जब सूर्य की आयु-वृद्धि और स्थिति-परिवर्तन से हमारी पृथ्वी आदमी के रहने के काबिल नहीं रहेगी। हमारे कार्य और विचार, हमारे वीरतापूर्ण कारनामे, हमारे राजनीतिक ढाँचे इतिहास के अंग हैं, परिवर्तनशील हैं। ये सब काल के अधीन हैं,

नाश को प्राप्त हो जाते हैं। भारत की परम्परा में जन्म और मृत्यु काल के प्रतीक हैं। क्या यह लोकक्षयकृत काल, यह शून्य, यह माया, यह संसार ही सब कुछ है, या कोई अन्य चीज भी है? क्या यह दुनिया जो घट-नाओं की एक अनन्त शृंखला है, आत्म-निर्भर है, स्वयं अपना आधार है, या कोई ऐसी भी चीज है जो इसे प्रेरित करती है, इसके नीचे रहती है, इसको एकता देती है और इसमें व्याप्त भी है? क्या परिवर्तन ही सब कुछ है, या परिवर्तन के पीछे स्थायित्व भी है?

क्या आदमी शून्य को समाप्त कर देगा या शून्य आदमी को समाप्त कर देगा? यह समस्या ही, यह भय, यह चिन्ता जो हमें सता रही है, दुनिया के बारे में यह अनिश्चय की अनुभूति ही इस बात की साक्षी है कि एक दूसरी दुनिया भी है। यह काल के मध्य रहते हुए एक अमर जीवन की कामना को प्रकट करती है। पारमार्थिक सत्ता की अव्यक्त अनुभूति के कारण ही हमें इस दुनिया के प्रति निराशा होती है।

तार्किक मीमांसा और व्यक्तिगत अनुभव से हमारे महान् विचारक इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि एक विश्वा-तीत सत्ता है और यह विश्व उसी की अभिव्यक्ति है। उपनिषदों ने इस मौलिक समस्या का समाधान प्रस्तुत किया है। उनमें तार्किक युक्तियों का और उन लोगों के अनुभवों का भी उल्लेख है, जिन्होंने ब्रह्म का साक्षा-त्कार किया है। जिन्हें हम वेद कहते हैं, वे महान् ऋषियों के आध्यात्मिक अनुभवों के भाण्डार हैं। विवेका-नन्द ने लिखा है: 'वेद कोई पुस्तकें नहीं हैं। वे उन आध्यात्मिक नियमों के संचित कोष हैं जो अलग-अलग

पुरुषों ने अलग-अलग समय पर मालूम किये हैं।' अतः वे निरन्तर विस्तार करनेवाले हैं। विवेकानन्द की दृष्टि में धर्म योग है। यह वैयक्तिक परिवर्तन, समायोजन और समन्वय का नाम है। किसी सिद्धान्त को मानना धर्म नहीं है। धर्म अपनी प्रकृति का पुनर्निर्माण है। धर्म बौद्धिक कट्टरता नहीं है। आध्यात्मिक जीवन का मनुष्य के अन्दर उदय होना धर्म है। विवेकानन्द ने ज्ञान-योग, राज-योग, भक्ति-योग, कर्म-योग के ऊपर ग्रन्थ लिखे और कहा कि आध्यात्मिक सिद्धि की प्राप्ति इन विभिन्न साधनों में से किसी भी एक की सहायता से हो सकती है।

जब हम आध्यात्मिक जीवन के सत्यों को बौद्धिक रूपों में व्यक्त करते हैं, तब ये बौद्धिक रूप अनुभवों की सजीवता से हीन होते हैं। आध्यात्मिक जीवन की विशालता और रहस्यमयता का इनसे ठीक-ठीक अनुमान नहीं होता। अगर हम धर्म-विशेष को सार्वभौम सत्यों से अधिक महत्त्व देते हैं तो हमारी प्रवृत्ति असहिष्णुता की हो जाती है। एस टी कोलरिज़ का निम्नलिखित प्रसिद्ध वाक्य यही बताता है: 'जो ईसाइयत को सत्य से अधिक प्रेम करता है, वह आगे चलकर अपने सम्प्रदाय-विशेष को ईसाइयत से अधिक प्रेम करेगा, और अन्त में स्वयं अपने को सबसे अधिक प्रेम करेगा।' असहिष्णुता धार्मिक अहंकार का प्रकाशन है, विनय का नहीं।

आज हम अपनी धर्मनिरपेक्षता की चर्चा करते हैं। हम धर्मनिरपेक्ष इस अर्थ में नहीं हैं कि हम धर्म के प्रति उदासीन हैं। हम धर्मनिरपेक्ष इसलिए हैं कि हम सब धर्मों को पवित्र मानते हैं। हम अन्तःकरण की स्वतंत्रता में विश्वास करते हैं। प्रत्येक व्यक्ति को अपना रास्ता

आप चुनने का और ईश्वर को अपने ही तरीक़े से पाने का अधिकार है। धर्मनिरपेक्षता-वाद हमें न केवल सहिष्णु बनना सिखाता है बल्कि अन्य धर्मों को समझना और प्रेम करना भी सिखाता है। श्रीरामकृष्ण के अनुभव को ध्यान में रखते हुए विवेकानन्द ने कहा था, 'हम हिन्दू लोग केवल सहिष्णु ही नहीं हैं, हम प्रत्येक धर्म से स्वयं को एकाकार कर देते हैं। हम मुसलमानों की मस्जिद में प्रार्थना करते हैं, हम पारसियों की अग्नि को पूजते हैं, हम ईसाइयों के क्रास के सम्मुख झुकते हैं।'

विदेशों में भ्रमण करते हुए विवेकानन्द को कई बातों में भारत के पिछड़े होने से पीड़ा हुई। भारत में जिस तरह से धर्म का अर्थ सुधार का विरोध और अन्ध-विश्वास माना जाता है, उससे उनको विशेष कष्ट हुआ। उन्होंने धर्म के दुरुपयोग का, स्पृश्यास्पृश्य पर जोर देने का जबर्दस्त विरोध किया। यह सब हमारे धर्म के उस महान् सिद्धान्त के विरुद्ध है, जिसके अनुसार ईश्वर हम सबके अन्दर सक्रिय और जीवित है और प्रथम उपयुक्त अवसर मिलने पर ऊपर आने के लिए तैयार रहता है। यह अन्तर्ज्योति जो दुनिया में आनेवाले प्रत्येक मनुष्य को दीप्त करती है, बुझायी नहीं जा सकती। चाहे हम इसे पसन्द करें चाहे न करें, हम इसे जानें या न जानें, ईश्वर हमारे अन्दर है और आदमी का लक्ष्य ईश्वर से एक होना है।

सच्चे धर्म की अन्तिम कसौटी यह है कि वह सत्य को पहिचानता हो और मनुष्यों से मैत्री करना सिखाता हो। शत्रुओं पर विजय प्राप्त करने के लिए हमारे अन्दर अहिंसा का, घृणा के परित्याग का होना आवश्यक है,

जो कि शत्रु-भाव से कहीं ऊँची चीज है ।

विवेकानन्द ने काम को उपासना का महत्त्व दिया है और हमें आदमी के अन्दर रहनेवाले ईश्वर की सेवा करके मोक्ष प्राप्त करने का उपदेश दिया है। यदि इस देश के वासी विवेकानन्द के उपदेशों से लाभान्वित होना चाहते हैं, तो यह आवश्यक है कि हम सब न केवल रचनात्मक कार्य में रुचि लें, बल्कि एक ऐसे आध्यात्मिक धर्म की स्थापना का भी व्रत लें जो प्रचलित सम्प्रदायगत धर्मों और सैद्धान्तिक वाद-विवादों से ऊपर हो, जो मानव-समाज का रूपान्तरण कर दे और उसे हमारे महापुरुषों के रामराज्य या ईश्वरीय राज्य के आदर्श के निकट ले आवे ।

O

'विवेक-ज्योति' के उपलब्ध पुराने अंक

वर्ष	अंक	मूल्य
१९(१९८१)	२, ३, ४,	६)७५
२०(१९८२)	१, २, ३, ४	९)००
२३(१९८५)	२, ३, ४	७)५०
२४(१९८६)	१, २, ४	७)५०
,,	३ (रामकृष्ण संघ शताब्दी विशेषांक)	५)००
२५(१९८७)	१, २, ३	९)००
,,	४ (रजत जयन्ती विशेषांक)	५)००

इन १८ अंकों का दाम ४९)७५ होता है, पर जो एक साथ इन अठारहों अंकों को मँगाएँगे, उन्हें ४०) में ही एक सेट प्राप्त होगा । डाक खर्च अलग ।

लिखे —विवेक-ज्योति कार्यालय, विवेकानन्द आश्रम, रायपुर ।

स्वामी विवेकानन्द का सन्देश

विष्णु प्रभाकर

(लेखक हिन्दी-जगत् के एक सुप्रसिद्ध साहित्यकार हैं। उनका प्रस्तुत लेख उनके 'हम इनके ऋणी हैं' पुस्तक से साभार गृहीत हुआ है।—स०)

स्वामी विवेकानन्द की याद आते ही एक ऐसे तेजस्वी व्यक्ति का चित्र आँखों में उभर आता है, जिसके शरीर पर वस्त्र तो हिन्दू संन्यासी के हैं पर जिसके अन्तर में समूची मानवता के लिए दर्द भरा हुआ है। एकमात्र मनुष्य ही उसका लक्ष्य है। एकमात्र मनुष्य की जड़ता का नाश करना ही उसका आदर्श है।

जिस समय उनके गुरु रामकृष्ण परमहंस की मृत्यु हुई थी, उस समय उन्होंने स्थान-स्थान पर रामकृष्ण मिशन स्थापित करने का प्रस्ताव किया था। उनके द्वारा वे अनाथों, बेबसों और रोगियों की सेवा करना चाहते थे। उनके साथियों ने इस प्रस्ताव का विरोध किया। कहा, "पागल हुए हो? हम साधु हैं। हमें दुनिया के पचड़ों में नहीं पड़ना चाहिए। चुपचाप ईश्वर की आराधना करनी चाहिए।"

उस समय स्वामीजी ने उन्हें जो उत्तर दिया था, वही उनका सन्देश है और वही उनका आदर्श। उन्होंने कहा था, "आप लोग समझते हैं कि ईश्वर के आगे बैठकर यह कहने से कि हे ईश्वर, तेरी नाक बहुत सुन्दर है, तेरी आँखें चमकती हैं, तेरे हाथ बहुत लम्बे हैं, वह प्रसन्न हो जाएगा और हाथ में पकड़कर तुम्हें स्वर्ग ले जाएगा। नहीं, यह सब ढोंग है। जो शान्ति तुम पाना चाहते हो, वह आँख बन्द करने से नहीं मिलेगी। आँखें खोलकर देखो कि तुम्हारे पास कौन है? कौन गरीबी

और बेबसी की हालत में पड़ा है? किस रोगी और अपाहिज को सहायता की जरूरत है? अपनी शक्ति भर उसकी सहायता करो। यही ईश्वर की सच्ची सेवा है। इसी से तुम्हें शान्ति मिलेगी।"

भारत के इतिहास में अनेक स्वर्ण-युग आये, लेकिन १९वीं शताब्दी ने भारत के पुनर्जागरण में जो योग दिया है, वह कई कारणों से अनोखा है। यह आश्चर्यजनक है कि किस प्रकार यहाँ सहसा ही राजनैतिक, सामाजिक, आध्यात्मिक और साहित्यिक चेतना फूट पड़ी। वस्तुतः वह चतुर्मुखी जागृति और प्रगति का काल है। विशेषकर उन्नीसवीं शताब्दी का उत्तरार्ध। १८५७ के स्वतन्त्रता-संग्राम की असफलता और सरकार के दमन के कारण कुछ दिनों तक शिथिलता अवश्य दिखाई दी थी, परन्तु वह तूफान से पूर्व की शान्ति जैसी थी। इस असफलता का एक परिणाम यह भी हुआ कि लोगों का ध्यान राजनैतिक उथल-पुथल से हटकर सामाजिक क्रान्ति की ओर उन्मुख हुआ। सामाजिक क्रान्ति के बिना राजनैतिक क्रान्ति सफल नहीं होती, यह सत्य अब जैसे स्पष्ट हो गया। इसलिए १९वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में सारा भारत सामाजिक क्रान्ति की झंकार से झंकृत हो उठा और शीघ्र ही भारत के रंगमंच पर उस क्रान्ति के अनेकानेक मानसिक, सामाजिक और सांस्कृतिक उत्तराधिकारी प्रकट होने लगे। इन व्यक्तियों ने मानसिक स्वाधीनता का जो बीज बोया, उससे देश की चेतना को जैसे मार्ग मिल गया। वह नाना रूपों में अपना अस्तित्व सिद्ध करने लगी।

इस क्षेत्र में बंगाल सबसे आगे रहा। राजा राम-

मोहन राय भारतीय राष्ट्रीयता के जनक माने जाते हैं, परन्तु सबसे पहले उनकी दृष्टि धर्म की ओर ही आकृष्ट हुई। इसका कारण खोज लेना कठिन नहीं है। उन दिनों भारत में सभ्यता और संस्कृति शासकों के कारण इतनी नहीं फैली जितनी पादरियों के कारण। सन् १८३३ तक उन्हें लाइसेंस लेकर आना होता था। परन्तु उस समय तक ही वे भारत के विभिन्न स्थानों में पहुँच चुके थे। बंगाल तो मिशनरियों का प्रधान केन्द्र बन गया था। आरम्भ में इनका स्वागत नहीं हुआ, परन्तु इसमें भी कोई सन्देह नहीं कि इनके कारण ही १९वीं शताब्दी के पूर्वार्ध तक भारत में, विशेषकर बंगाल में, सामाजिक चेतना का उत्थान और विकास हुआ।

यह चेतना पैदा करना इनका ध्येय नहीं था। परन्तु अपने धर्म का प्रचार करने के लिए उन्हें शिक्षा और सुधार का काम करने के लिए बाध्य होना पड़ा। अपने धर्म की श्रेष्ठता दिखाने के लिए वह हिन्दू धर्म की कुरीतियों का प्रदर्शन करते थे। इसकी प्रतिक्रिया-स्वरूप समझदार लोगों के मन में चेतना जागी और अनायास ही अपने धर्म में सुधार करने का प्रश्न उनके सामने आ गया। उस समय धर्म ही व्यक्ति और समाज का मूलाधार था। इसके बिना समाज-सुधार की कल्पना हो ही नहीं सकती थी। इसीलिए राजा राममोहन राय ने धर्म-संस्कार की ओर ध्यान दिया। उन्होंने निराकार ब्रह्म की साधना, एकेश्वरवाद और अद्वैतवाद को हिन्दू धर्म का शुद्ध रूप प्रमाणित करने की चेष्टा की। सामाजिक कुप्रथाओं पर प्रहार करके समाज-सुधार का श्रीगणेश भी किया, जो कालान्तर में सारे भारत में

व्याप्त हो गया और ब्रह्म समाज, प्रार्थना समाज, आर्य समाज, थियोसोफी आदि संस्थाओं के रूप में प्रकट हुआ। रामकृष्ण की जीवनदृष्टि सहित ये सब इस काल के महाप्रयास हैं।

देवेन्द्रनाथ ठाकुर, केशवचन्द्र सेन, ईश्वरचन्द्र विद्यासागर, स्वामी दयानन्द सरस्वती, रामकृष्ण परमहंस, महादेव गोविन्द रानडे, मेडम ब्लवेटस्की, कर्नल आलकाट आदि दिग्गज समाज-सुधारक और सन्त उस समय जीवित थे, जब स्वामी विवेकानन्द का जन्म हुआ। उनकी जलायी हुई बौद्धिक-स्वातन्त्र्य, देश-प्रेम और समाज-सुधार की ज्योति धीरे-धीरे प्रखर रूप में प्रदीप्त होती जा रही थी और इस महामन्थन का प्रभाव जीवन के सभी अंगों पर पड़ रहा था।

इनमें से अधिकांश आन्दोलनों का मुख्य लक्ष्य समाज-सुधार था। विद्यासागर ने विधवा-विवाह का समर्थन करके भारतीय नारी के कष्टों को दूर करने के लिए सम्भवतः सबसे पहला ठोस कदम उठाया। स्वामी दयानन्द सरस्वती अत्यन्त उग्र रूप में सामाजिक कुरीतियों पर प्रहार कर रहे थे। लेकिन केशवचन्द्र सेन धर्म-सुधार की तीव्रता की अपेक्षा समन्वय के अधिक पक्षपाती थे। लेकिन उनसे भी आगे थे रामकृष्ण परमहंस, जो सर्वधर्मसमन्वय के आदर्श के प्रतीक ही थे। वे मत-मतान्तरों के वाद-विवाद में न उलझकर एक ब्रह्म की उपासना का उपदेश देते थे। उनकी दृष्टि में धर्म के बाह्य चिह्न गौण थे। विधि-विधान व्यर्थ थे। मुख्य था उसका आत्मिक पक्ष। कवि दिनकर के शब्दों में, "जब आस्तिक और नास्तिक, हिन्दू, ईसाई और मुसलमान

आपस में इस प्रश्न पर लड़ रहे थे कि किसका धर्म ठीक है और किसका नहीं, तब परमहंस रामकृष्ण ने सभी धर्मों के मूल तत्त्व को अपने जीवन में साकार करके मानो सारे विश्व को यह सन्देश दिया कि धर्म को शास्त्रार्थ का विषय मत बनाओ। हो सके तो उसकी सीधी अनुभूति के लिए प्रयास करो। सभी धर्म एक ही ईश्वर की ओर ले जानेवाले अनेक मार्ग हैं। जब तक तुम अनुभूति की ऊँचाई पर हो, तब तक यह सोचना व्यर्थ है कि तुम हिन्दू हो या मुसलमान।

"वे उस ऊँचाई के मनुष्य थे जहाँ से सभी धर्म सत्य और समान दीखते हैं, जहाँ विवाद और शास्त्रार्थ की आवाज नहीं पहुँचती, जहाँ धर्म अपनी राजनीतिक एवं सामाजिक गन्ध को छोड़कर केवल धर्म के रूप में उपस्थित रहता है। आजीवन वे बालकों के समान सरल और निश्छल रहे। आजीवन वे उस मस्ती में डूबे रहे, जिसके दो-एक छींटों से ही जन्म-जन्म की तृष्णा शान्त हो जाती है। हिन्दू धर्म में जो गहराई और माधुर्य है, वे उसकी प्रतिमा थे। सिर से पाँव तक वे आत्मा की ज्योति से परिपूर्ण थे। आनन्द, पवित्रता और पुण्य की प्रभा उन्हें घेरे रहती थी।"

ऐसे परमहंस रामकृष्ण के शिष्य थे विवेकानन्द। इसी आदर्श के प्रचारक बनकर वे जीवन-भर देश-विदेश में घूमते रहे। वे उदार भारतीय धर्म के निपुण व्याख्याता थे। उन्होंने भारतीय संस्कृति का नाम उज्ज्वल किया और देशवासियों के हृदय में स्वधर्म और स्वदेश के लिए सात्त्विक स्वाभिमान उत्पन्न करते हुए विश्व मानव बनने की प्रेरणा दी। उन्होंने कहा, "मनुष्य का निर्माण

करना ही मेरा धर्म है।"

सन् १८९३ में शिकागो में विश्व धर्म सम्मेलन हुआ था। स्वामीजी उसमें भाग लेने के लिए गये थे। तब उनसे बहुत ही कम लोग परिचित थे। लेकिन जिस समय वे उस सम्मेलन में बोलने के लिए खड़े हुए और उनके मुख से ये शब्द निकले, "अमरीका के प्यारे भाई-बहनो!" * तो दो मिनट तक तालियों की गड़गड़ाहट कानों की झिल्ली फाड़ती रही। ऊपर से देखने में इन सीधे-सादे शब्दों में कुछ भी तो जादू नहीं है, लेकिन इनके पीछे आत्मा की जो ध्वनि थी, उसने मानो इनके वास्तविक अर्थ को स्पष्ट कर दिया। धार्मिक एकता की चर्चा करते हुए उन्होंने कहा, "यदि यहाँ पर उपस्थित किसी व्यक्ति को यह आशा है कि यह एकता किसी एक धर्म की विजय और दूसरे धर्मों के विनाश से पैदा होगी तो मैं उससे कहता हूँ—बन्धु, तुम्हारी आशा असम्भव है। क्या मेरी अभिलाषा यह है कि ईसाई हिन्दू हो जाएँ? भगवान् ऐसा न करे! क्या मेरी अभिलाषा यह है कि हिन्दू या बौद्ध ईसाई हो जाएँ? भगवान् ऐसा न करे। ईसाई को हिन्दू या बौद्ध अथवा हिन्दू या बौद्ध को ईसाई नहीं होना है। किन्तु हरेक को यह प्रयत्न करना है कि वह दूसरे की भावना को आत्मसात् कर ले और फिर अपने व्यक्तित्व को सुरक्षित रखते हुए स्वयं अपने विकास-नियम द्वारा विकसित हो।"

विवेकानन्द के कण्ठ से निकलनेवाली यह आवाज किसकी आवाज थी? यह भारतीय संस्कृति की आवाज

---

* स्वामीजी का सम्बोधन था—'Sisters and Brothers of America, (अमरीका की बहनो और भाइयो)।

है। भारतीय संस्कृति की दो प्रमुख विशेषताएँ हैं—एक है व्यापक सहिष्णुता अर्थात् उदारता अर्थात् दूसरे के दृष्टिकोण को समझना, और दूसरी है सार्वभौमिक दृष्टिबिन्दु, अर्थात् जो नया है उसे आत्मसात् करके अपना बनाना। हिन्दू धर्म का विकास इन्हीं दो विशिष्टताओं का परिणाम है। इसीलिए तो विश्व धर्म सम्मेलन में उनके ये शब्द निकले, 'अनरीका के प्यारे भाई-बहनो' और इसीलिए उनका भाषण सुनकर 'न्यूयार्क हैरल्ड' ने लिखा था, "विश्व धर्म सम्मेलन में स्वामी विवेकानन्द नाम के एक महापुरुष आये हैं। उनके ओजस्वी व्याख्यान सुनकर हम सोचने लगते हैं कि ऐसी पवित्र जाति के लिए पादरियों को भेजना कैसी मूर्खता है।"

जापान से लिखे अपने एक पत्र में स्वामीजी ने अपने देशवासियों को कहा था, "आओ, आदमी बनो। अपने संकीर्ण घोंसलों से निकलो और दूर-दूर तक देखो। देखो, किस भाँति जातियाँ बढ़ रही हैं। क्या तुम अपने को प्यार करते हो? क्या तुम्हें अपना देश प्यारा है? लोग अब भी भारत को 'कैवल्य भूमि' मानते हैं। परन्तु तुम वास्तव में क्या हो? जीवन-भर व्यर्थ बातें बनाते हो। आओ, इन जापानियों को देखो और फिर लज्जा से अपना मुँह छिपा लो। अपने सिरों पर वहमों का बोझ लादकर बैठे रहनेवालो, सामाजिक विकारों ने तुम्हारी मनुष्यता को कुचल दिया है। अब तुम क्या देखते हो?"

उन्होंने कहा, "दुनिया के दूसरे राष्ट्रों से हमारी अलहदगी इस पतन का कारण है और इसका इलाज सिर्फ यही है कि हम फिर से बाकी दुनिया की धारा में शामिल हो जाएँ। गतिशीलता जीवन का चिह्न है,

इसलिए संकीर्णता को छोड़कर हमें बाहर निकलना है। पश्चिम वालों से हमें एक विनिमय करना है। धर्म और आध्यात्मिकता के स्तर पर चीजें हम उन्हें देंगे और बदले में भौतिक साधनों का दान हम सहर्ष स्वीकार करेंगे। समानता के बिना मैत्री सम्भव नहीं होती और समानता वहाँ आएगी कहाँ से, जहाँ एक तो बराबर गुरु बना रहना चाहता है और दूसरा उसका सनातन शिष्य?" १८९८ के पत्र में उन्होंने इसी भावना को व्यक्त करते हुए लिखा था—हमारी जन्मभूमि का कल्याण तो इसमें है कि उसके दो धर्म—हिन्दू और इस्लाम मिलकर एक हो जाएँ। वेदान्ती मस्तिष्क और इस्लामी शारीरिक संयोग मे जो धर्म खड़ा होगा, वही भारत की आशा है।

वे सच्चे राष्ट्रवादी थे, परन्तु उनकी राष्ट्रीयता संकीर्ण नहीं थी। वह अन्तर्राष्ट्रीयता ही थी। उन्हें भारत की प्राचीन संस्कृति और आध्यात्मिक विरासत पर गर्व था। उन्हें विश्वास था कि भविष्य और भी महान् है, परन्तु वर्तमान कूपमण्डूकता, पुराणपन्थीपन और समय से पिछड़ेपन से वे बड़े दुःखी थे, जिनके कारण महान् भारतीय जनता गरीबी और अन्धविश्वास में फँसी है और विश्व की वर्तमान विचारधारा से पिछड़ गयी है। उन्होंने कहा, "आओ, हम प्रतिदिन प्रार्थना करें, भारत की आत्मा मेरा सर्वोच्च स्वर्ग है, भारत का हित मेरा हित है। ओ विश्व माता, मुझे मानवता प्रदान कर! ओ महाशक्ति, मेरी दुर्बलता का हरण कर, मेरी पशुता का हरण कर और मुझे मनुष्य बना!"

इसीलिए जो सबसे नीचे थे, सबसे उपेक्षित थे, उनके लिए वे तड़पते थे। उन्होंने कहा, "आओ, हममें

से हरेक प्रतिदिन उन अभागों के लिए प्रार्थना करे जो गरीबी, पुरोहितवाद और अत्याचार का शिकार हैं। मैं ऊँचे वर्ग के लोगों और धनियों में धर्म-प्रचार करने के स्थान पर उनमें धर्म का प्रचार करना अधिक उपयुक्त समझता हूँ। मैं गरीब हूँ। गरीबों को प्यार करता हूँ। जो सबकी सेवा करता है, वही भगवान् की सेवा करता है। सामाजिक, राजनीतिक या आध्यात्मिक इन सबकी प्रगति का एक ही आधार है, और वह यह है कि मैं और मेरे भाई एक हैं। यह तमाम देशों और तमाम जातियों के लिए सत्य है।"

दीन-दरिद्रों के प्रति उनकी ममता की थाह नहीं। इनकी एक कविता की प्रथम पंक्तियाँ हैं, "तुम्हारे सामने अनेक रूपों में भगवान् विराजमान हैं। उन्हें छोड़कर तुम ईश्वर को कहाँ ढूंढ़ रहे हो? जो जीवों से प्रेम करता है वही ईश्वर की सेवा करता है।"

तो यह था स्वामी विवेकानन्द का आदर्श और यही था उनका सन्देश। उनका यह सन्देश उनके मानव-प्रेम का प्रतीक है। उनकी राष्ट्रीयता भी मानवता का ही एक रूप है। उन्होंने अपने अन्तर में पूर्व और पश्चिम में जो सर्वोत्तम है, उसको एकरूप कर लिया था। पूर्व की गहन अन्तर्दृष्टि और उसका आदर्शवाद तथा पश्चिम का विश्लेषणात्मक बुद्धिवाद और गत्यात्मक व्यावहारिकता ये सभी गुण उनके अन्तर में समान रूप से रमे हुए थे। इसीलिए वे बार-बार व्यग्र होकर पुकार उठते थे, "कब? कब, हे प्रभो, मनुष्य मनुष्य का भाई होगा?"

उनकी यह पुकार आज भी आकाश में गूंज रही है। इस पुकार को सुनने और समझने में ही सबका कल्याण है। यही वेदान्त है और यही है अनेकान्त। ○

स्वामी विवेकानन्द तथा भगवान् बुद्ध

स्वामी निखिलेश्वरानन्द

(रामकृष्ण मठ, बेलुड़ मठ)

जब कोई स्वामी विवेकानन्द का ध्यान मुद्रावाला विख्यात चित्र देखता है, तो पहली बात जो ध्यान को बरबस आकर्षित करती है वह है महात्मा बुद्ध की ध्यान-मुद्रावाली मूर्ति के साथ उसकी समरूपता। अमेरिका, जापान एवं इंग्लैण्ड में लोग स्वामी विवेकानन्द और बुद्ध के बीच इस समानता से अत्यधिक आकर्षित हुए थे। विश्व-इतिहास में ध्यानमुद्रावाली ये दिव्य आकृ-तियाँ विलक्षण हैं।

अमेरिका जाने से पूर्व स्वामी विवेकानन्द की मुलाकात आबूरोड स्टेशन पर अपने गुरुभाई स्वामी तुरीयानन्द से हुई। स्वामी तुरीयानन्द ने बाद में इस भेंट का उल्लेख करते हुए कहा था, "उस समय स्वामी विवेकानन्द ने जो कुछ उद्‌गार व्यक्त किया था, उसकी याद अभी भी ताजा है।...उन्होंने कहा था, 'हरिभाई! मैं अभी भी तुम्हारे धर्म को समझने में असमर्थ हूँ। लेकिन मेरा हृदय विशाल हो गया है और मैंने महसूस करना सीख लिया है; विश्वास करो मैं अब सचमुच अतिभावप्रवण होकर महसूस कर सकता हूँ।' वे इतने भावुक हो उठे थे कि उनका गला रुद्ध हो गया था और वे आगे कुछ न कह पाये।...क्या आप कल्पना कर सकते हैं कि स्वामी विवेकानन्द के हृदयतल से निकले उन शब्दों ने मेरी मनोदशा पर क्या प्रभाव डाला होगा? मैंने सोचा क्या बुद्ध ने भी ऐसी ही बातें नहीं कही थीं, क्या बुद्ध ने भी ऐसा ही महसूस नहीं किया था?" स्वामी तुरीया-नन्द ने आगे कहा, "और मुझे स्मरण है, जब वे बोधि-

वृक्ष के नीचे ध्यानस्थ होने के लिए बोधगया गये थे, उन्हें भगवान् बुद्ध के दिव्य दर्शन हुए थे और बुद्ध उनके शरीर में प्रविष्ट हुए थे।...मैं यह स्पष्ट रूप से देख सका था कि सम्पूर्ण मानवसमुदाय की व्यथा उनके अति-स्पन्दनशील हृदय में प्रवेश कर गयी थी।"

सचमुच, जब हम इन दो महान् आत्माओं के जीवन एवं उपदेशों की तुलना करते हैं तो हमें यह सोचने को बाध्य होना पड़ता है कि क्या ये दोनों आत्माएँ २,४०० वर्ष के अन्तराल पर इस धराधाम पर अवतीर्ण हुई एक ही सत्ता नहीं हैं?

स्वामीजी के जीवन की अनेक घटनाएँ इस बात को प्रमाणित करती हैं कि यह सादृश्य मात्र एक भौतिक संयोग नहीं है। बुद्ध वीरोचित ढाँचे में ढले एक क्षत्रिय थे तथा शारीरिक, मानसिक एवं आध्यात्मिक गुणों से सुसम्पन्न एक असाधारण व्यक्ति थे, और स्वामी विवेका-नन्द भी ऐसे ही थे। बुद्ध बाल्यावस्था में भी ध्यान की अवस्था में चले जाते थे और स्वामीजी भी वैसा ही करते थे। सिद्धार्थ बाल्यपन से ही इतने दयालु थे कि देवदत्त के तीर से घायल एक पक्षी के प्राण उन्होंने बचाये थे। बिले भी, जो कि स्वामीजी के बचपन का नाम था, इतना दयावान् था कि वह अपने मकान के पास से गुजरनेवाले भिखारियों को घर का सामान दे देता था; इस हरकत को रोकने के लिए उसे घर के अन्दर बन्द कर दिया जाता था। जब सिद्धार्थ का जन्म हुआ, तो उनके बारे में कहा गया कि बालक या तो लोगों को अज्ञानता के अन्धकार से मुक्त करेगा या यदि शासन करना चाहेगा तो सारे विश्व पर राज्य करेगा।

लेकिन पिता द्वारा उन्हें सम्राट् बनाने की सारी कोशिशें नाकामयाब रहीं। युवा नरेन्द्रनाथ, भावी स्वामी विवेकानन्द, हर रात जब सोने जाते थे तो उनके मन में जीवन के दो बिल्कुल भिन्न रूप सामने आते—एक अति सफल गृहस्थ-जीवन की कल्पना और दूसरा एक महान् संन्यासी की परिकल्पना, और वे दोनों रूपों को प्राप्त करने में स्वयं को समर्थ पाते। भविष्य के निर्धारण का यह द्वन्द्व क्रमशः समाप्त होता गया और अन्ततः उन्होंने तपोमय संन्यासी जीवन अपनाने का निश्चय कर लिया। उन्हें परिणय-सूत्र में बाँधने की उनके पिता की सारी कोशिशें व्यर्थ साबित हुईं।

स्वामीजी विशेषकर अपने पिता के निधन के बाद विपत्ति मे घिरने पर दैवी न्याय एवं दया तथा आनन्दस्वरूप ईश्वर की इस सृष्टि में दुःख-विषाद के सह-अस्तित्व के बारे में संशय से घिर गये थे। बुद्ध ने भी ऐसा ही महसूस किया था, जब उन्होंने रोग, वृद्धावस्था और मृत्यु के रूप में मानव की वेदना को देखा था। बुद्ध के हृदय को व्यक्तिगत मुक्ति की चाह ने नहीं अपितु सम्पूर्ण मानव-जाति की पीड़ा ने स्पन्दित किया था। मानव-जाति को दुःखभोग से मुक्त कराने के लिए, न कि निजी मोक्ष-प्राप्ति के लिए, उन्होंने वैभव-विलास का त्याग किया था और निकल पड़े थे सत्य की खोज में। इसी भावना और आकांक्षा से, मानवजाति को उसकी दिव्यता का एहसास कराने के लिए स्वामीजी ने भी अपना सब कुछ तज दिया था, यहाँ तक कि विपत्ति से घिरी अपनी माता और भाइयों का मोह भी उन्हें न रोक

सका और संसार से उन्होंने वैराग्य ले लिया। दिनांक २९ जनवरी १८९४ को जूनागढ़ के दीवान श्री हरिदास विहारीदास देसाई को सम्बोधित अपने पत्र में उन्होंने लिखा—"एक ओर तो थी भारतीय धर्म तथा विश्व के भविष्य के बारे में मेरी परिकल्पना और उन लाखों नरनारियों के प्रति मेरा प्रेम, जो युगों से डूबते ही जा रहे हैं—न कोई सहारा देनेवाला, न कोई उनके बारे में सोचनेवाला ही; और दूसरी ओर था उन लोगों को दुःखी करना जो मेरे सर्वाधिक अन्तरंग और प्रिय पात्र थे। मैंने इनमें से पहले को ही चुना।"

बुद्ध बोधगया में बोधिवृक्ष के नीचे सत्य का साक्षात्कार करने के दृढ़ संकल्प के साथ ध्यानमग्न हुए थे और जब श्रीरामकृष्ण परमहंस काशीपुर में निवास कर रहे थे तब इसी बोधगया की ओर ध्यान आकर्षित हुआ था नरेन का भी, और वे अपने गुरुभाइयों के साथ उस पवित्र स्थल के लिए चल पड़े थे। उस समय स्वामीजी बुद्ध के विचारों से ओतप्रोत थे। उस समय वे बौद्ध मनस्वी थे। तथागत की प्रचण्ड ज्ञानशक्ति, उनके विचारों का उत्कृष्ट सन्तुलन, सत्य के लिए उनकी अटल चाह, उनका उज्ज्वल वैराग्य, उनका संवेदनशील हृदय, उनका मृदु, गहन गम्भीर व्यक्तित्व, उनकी उदात्त नैतिकता तथा तत्त्वशास्त्र एवं मानव-चरित्र के बीच सन्तुलन स्थापित करने का अद्भुत ढंग—ये सभी अन्य गुरुभाइयों के बीच फैल चुके थे। वे सभी बुद्ध की तरह अपना जीवन तक उत्सर्ग करके सत्य को पाने के लिए कृतसंकल्प

थे । उन लोगों ने अपने ध्यानकक्ष की दीवारों पर बड़े मोटे अक्षरों में बुद्ध का सत्य के साक्षात्कार हेतु वह प्रसिद्ध दृढ़ संकल्प अंकित कर रखा था :

इहासने शुष्यतु मे शरीरं
त्वगस्थिमासं प्रलयं च यातु ।
अप्राप्य बोधिं बहुकल्पदुर्लभां
नैवासनात् कायमतश्चलिष्यते ।।

——इस आसन पर मेरा शरीर सूख जाए, त्वचा-अस्थि-मांस गल जाएँ, पर जब तक बहुकल्पदुर्लभ बोधि मुझे प्राप्त नहीं हो जाती, तब तक इस आसन से मेरा शरीर चलायमान नहीं होगा ।

बोधगया पहुँचने पर उन लोगों ने ध्यानस्थ होने के लिए पवित्र बोधिवृक्ष के नीचे स्थित उसी प्रस्तर-आसन को चुना, जिस पर बैठकर बुद्ध ध्यानमग्न हुए थे और ज्ञान प्राप्त किया था । इसी अवधि के दौरान नरेन को काशीपुर में निर्विकल्प समाधि की प्राप्ति हुई थी । संयोगवश महाप्रयाण के पहले स्वामीजी की अन्तिम तीर्थयात्रा बोधगया की ही थी, जब वे अपने ३९वें जन्मदिवस पर वहाँ गये थे । पुनः यही वह स्थल था, जहाँ एक बौद्ध विहार को देखकर श्री माँ सारदा अपनी संन्यासी-सन्तानों के लिए मठ की स्थापना की याचना के लिए प्रेरित हुई थीं, जो अन्ततः रामकृष्ण संघ के रूप में फलीभूत हुई । वस्तुतः बोधगया स्वामीजी के जीवन का प्रथम और अन्तिम प्रमुख तीर्थ था ।

बुद्ध ने बोधत्व प्राप्त करने के बाद सारनाथ (बनारस) में पहली बार धर्मचक्र का प्रवर्तन किया था और इसी बनारस में स्वामीजी ने अपना प्रथम

विख्यात वक्तव्य दिया था—"मैं जा रहा हूँ और तब तक वापस नहीं आऊँगा जब तक समाज पर एक बम की तरह न फूट पड़ूँ और उसे स्वामिभक्त श्वान की तरह अपना अनुगामी न बना लूँ।" बनारस में ही उन्होंने शिष्यों को जीवित शिव की—चिकित्सा और अन्न के अभाव में रोग और भूख से मरनेवाले नर-नारियों की—सेवा के लिए पहला सेवाश्रम प्रारम्भ करने को प्रेरित किया था।

ज्ञान प्राप्त करने के बाद बुद्ध ने सम्यक् आचरण द्वारा समस्त तृष्णा के विनाश का महान् सन्देश प्रचारित करने के लिए पैदल ही देश का भ्रमण किया था। स्वामीजी ने परिव्राजक के रूप में न केवल सम्पूर्ण देश का भ्रमण किया, बल्कि वे सभी आत्माओं की दिव्यता एवं संसार के समस्त धर्मों के समन्वय का महान् सन्देश देने के लिए पश्चिम देशों की भी यात्रा की। उन्होंने स्वयं कहा, "मेरे पास पाश्चात्य देशों के लिए सन्देश है, जैसा कि बुद्ध के पास प्राच्य के लिए सन्देश था।" बुद्ध ने 'बहुजन-हिताय बहुजन-सुखाय' के आदर्श से संन्यासियों के लिए संघ की स्थापना की। स्वामीजी ने भी 'आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय च' के आदर्श के साथ अपने गुरु के नाम पर संघ की स्थापना की। अपने शिष्यों से स्वामीजी कहते, "बुद्ध मनुष्य नहीं थे, एक अनुभूति थे। तुम सभी उसी में समा जाओ! उसकी चाभी यहाँ से ग्रहण करो!" भगिनी निवेदिता को दीक्षा देते समय उन्होंने उन्हें शिव की पूजा करने तथा तथागत बुद्ध की उपासना और उनके चरणों में सुमन अर्पित

करने को कहा था। निवेदिता लिखती हैं—"उन्होंने कहा, 'जाओ और उनका अनुसरण करो, जिन्होंने दिव्य बोधत्व प्राप्त करने के पूर्व पाँच सहस्र बार जन्म ग्रहण कर अपना जीवन दूसरों के लिए उत्सर्ग किया।' उन्होंने ये बातें इस प्रकार कहीं मानो एक व्यक्ति को माध्यम बनाकर उन सभी को सम्बोधित कर रहे हों, जो भविष्य में कभी भी उनके पास निर्देश प्राप्त करने आएँगे।"

बुद्ध ने न केवल मानवता को बल्कि सम्पूर्ण प्राणि-जगत् को भी अपना बना लिया था। अम्बपाली नामक वेश्या, वह अछूत जिससे बुद्ध ने अन्तिम आहार ग्रहण किया था तथा एक नाई भी उनसे निर्वाण का वरदान प्राप्त कर धन्य हुआ था। वे राजगीर में एक बकरे की जान बचाने के लिए अपने जीवन की कुर्बानी देने को तैयार हुए थे। स्वामीजी का हृदय भी पददलित लोगों के लिए द्रवित हुआ था। खेतड़ी की नर्तकी एवं मोची तथा अल्मोड़ा का एक गरीब मुसलमान फकीर—सभी को उनका आशीर्वाद और सम्मान प्राप्त हुआ था। उनके द्रवित हृदय से यह मर्मस्पर्शी वाक्य फूट पड़ा था—"मैं उसे महात्मा मानता हूँ जिसका हृदय दरिद्रों के लिए द्रवीभूत होता है, अन्यथा वह दुरात्मा है।" "मैं बार-बार जन्म लूं और हजारों दुःख सहूँ, ताकि मैं उस ईश्वर की पूजा कर सकूँ, जो सदा ही वर्तमान है, जिस अकेले में मैं विश्वास करता हूँ, जो समस्त जीवों का समष्टिस्वरूप है और जो दुष्टों के रूप में, पीड़ितों के रूप में तथा सब जातियों, सब

वर्गों के गरीबों के रूप में प्रकट हुआ है। वही मेरा विशेष आराध्य है।" उन्होंने कहा, "जब तक मेरे देश में एक कुत्ता भी भूखा रहता है, उसके लिए भोजन जुटाना और उसकी देखरेख करना ही मेरा धर्म है। इसके अलावा और जो कुछ है, वह या तो अधर्म है या गलत धर्म है।" भगिनी निवेदिता ने अपने गुरु को कहते हुए सुना था, "मैं कोई भी अपराध करने या हमेशा के लिए नरक में जाने में भी नहीं संकोच करूँगा, अगर ऐसा करने से मैं सचमुच किसी व्यक्ति की सहायता कर सकूँ।" वे आगे लिखती हैं—"हममें से कुछेक के प्रति उनके द्वारा बारम्बार कही गयी बोधिसत्व की जीवन-गाथा के पीछे भी उनकी यही भावना निहित रहती, मानो वर्तमान युग में इसका विशेष प्रयोजन हो। बोधिसत्व ने उस समय तक निर्वाण प्राप्त करना स्वीकार नहीं किया, जब तक इस विश्व का अन्तिम धूलिकण भी उनसे पहले मुक्त न हो जाता हो।"

'वज्रध्वज सूत्र' के अनुसार एक बोधिसत्व (आगे चलकर होनेवाले बुद्ध) का संकल्प होता है—"यह निश्चित रूप से बेहतर है कि अन्य लोग विषाद में पड़े रहें इसकी अपेक्षा केवल मैं दुःखभोग करूँ। मुझे अपने आप को बन्धक के रूप में अवश्य समर्पित कर देना चाहिए जिससे सम्पूर्ण विश्व नरक, जानवरों एवं यमलोक की विभीषिका से मुक्त हो सके। मुझे अपने इस शरीर के माध्यम से, सभी प्राणियों के लिए, समस्त कष्टों का अनुभव करना चाहिए। मैं सभी प्राणियों की ओर से सभी को अभय देता

हूँ।...और क्यों ? समस्त प्राणिजगत् को मुक्त करने के उद्देश्य से मुझमें सभी प्रकार के ज्ञान पर विजय प्राप्त करने की इच्छा उत्पन्न हुई है।" इस प्रकार बुद्ध ने उस सार्वभौमिक करुणा का सन्देश दिया, जो वेदान्त के अनुसार सभी प्राणियों की बुनियादी समानता पर आधारित है। उनके अनुसार अन्य लोगों के प्रति प्रेमवश निर्वाण को त्याग देना वास्तविक अर्थ में निर्वाण प्राप्त करना है।

स्वामीजी ने अनेक अवसरों पर सर्वजनीन मुक्ति के विचार को उसी तरह व्यक्त किया, जिस ढंग से बुद्ध ने व्यक्त किया था। उन्होंने अपने शिष्य श्री शरत्चन्द्र चक्रवर्ती से कहा था, "माना कि अद्वैत की अनुभूति के माध्यम से तुम व्यक्तिगत मुक्ति प्राप्त कर लेते हो, लेकिन इससे विश्व का क्या भला होगा ? तुम्हें तो शरीर-त्याग से पहले सम्पूर्ण विश्व को मुक्त करना होगा। तभी तुम शाश्वत सत्य में स्थित हो पाओगे।" उन्होंने पुनः कहा, "क्या तुम सोचते हो कि जब तक एक भी जीव बन्धन में पड़ा रहता है, तुम मुक्ति प्राप्त कर सकोगे ? जब तक वह मुक्त नहीं हो जाता, तब तक तुम्हें कई बार जन्म ग्रहण करना पड़ेगा—उसे ब्रह्म की अनुभूति कराने में सहायता करने हेतु।" उन्होंने श्री गिरीश घोष से कहा था, "क्या तुम जानते हो, गिरीश बाबू, मुझे ऐसा लगता है कि विश्व को दुःखों से मुक्त कराने के लिए यदि मुझे हजारों बार जन्म ग्रहण करना पड़े तो मैं निश्चित रूप से ऐसा करूंगा। अगर ऐसा करने से एक भी आत्मा का दुःख कुछ कम होता है, तो मैं

ऐसा क्यों न करूँगा ? केवल अपनी मुक्ति से बाकी सबका क्या काम होगा ? उस राह पर अपने साथ सभी लोगों को ले चलना होगा।"

इस प्रकार स्वामी विवेकानन्द का जीवन एवं सन्देश मानो बुद्ध के जीवन एवं सन्देश की प्रतिध्वनि थी और २,५०० वर्ष पूर्व गुंजरित सन्देश को उन्होंने एक नूतन विश्वसनीयता प्रदान की थी।

किन्तु स्वामीजी स्वयं कभी बुद्ध के साथ अपनी तुलना नहीं करने देते थे। एक बार उन्होंने कहा, "हम सभी स्वीकार करें कि हममें अभी भी वासनाएँ हैं। कोई उन (बुद्ध) के साथ अन्य किसी की तुलना करने का दुस्साहस न करे।" जब किसी ने उनसे पूछा कि क्या आप बौद्ध हैं, तो बुद्ध के प्रति श्रद्धा इन शब्दों में फूट पड़ी, "मैं बुद्ध के सेवकों के सेवकों का भी सेवक हूँ!" वे कह उठते, "बुद्ध! बुद्ध! अवश्यमेव वे धरती पर जन्म लेनेवालों में श्रेष्ठतम थे।" फिर कहते, "दुनिया में वे ही ऐसे व्यक्ति थे, जिनकी बुद्धि हमेशा सन्तुलित रही, संसार में पैदा होनेवाले एकमात्र सन्तुलित बुद्धिवाले मनुष्य!" सम्भवतः बुद्ध का ऐतिहासिक प्रामाण्य ही उनके प्रति स्वामीजी की ऐसी उत्कट श्रद्धा का कारण था। परन्तु भगिनी निवेदिता के अनुसार—"वह केवल बुद्ध के व्यक्तित्व का ऐतिहासिक प्रामाण्य ही नहीं था, जिसने स्वामीजी को मन्त्रमुग्ध कर रखा था। उतना ही सशक्त दूसरा कारण था उनका अपने गुरुदेव की जीवन-घटनाओं को हर समय अपनी आँखों से इस २,५०० वर्ष पहले की विश्व-प्रमाणित जीवनी से

मिला-मिलाकर देखना। बुद्ध में उन्होंने रामकृष्ण परमहंस को देखा और रामकृष्ण में बुद्ध को। एक क्षण में उनके अन्तर्मन में प्रवाहित होनेवाली यह विचारसरणी उस समय प्रकट हो गयी, जब वे बुद्ध की महासमाधि का दृश्य वर्णन कर रहे थे। उन्होंने बताया कि कैसे वृक्ष के नीचे कम्बल बिछा दिया गया था और किस प्रकार तथागत 'अपने दाहिनी करवट सिंह के समान' अन्तिम क्षण की प्रतीक्षा करते हुए लेट गये थे कि इतने में एक व्यक्ति भागता भागता उपदेश लेने आया। शिष्यों ने उसे अनाहूत मानकर भगा दिया होता और तथागत की मृत्यु-शय्या की शान्ति को किसी भी प्रकार खण्डित न होने दिया होता; किन्तु जब बुद्ध ने उनकी बातचीत सुनी तो बोल उठे, 'नहीं, नहीं! जो भेजा गया था वह हरदम तैयार है,' और ऐसा कह अपनी कोहनी का सहारा लेकर शरीर को उठाया और उपदेश दिया। ऐसा चार बार हुआ और तब,—हाँ, केवल तभी—बुद्ध ने मृत्यु को मानो स्वीकृति दी...और इस प्रकार स्वामीजी द्वारा कही जानेवाली अमरगाथा का समापन हुआ। किन्तु श्रोता के लिए सबसे महत्त्व का क्षण वह था, जब कथा कहनेवाला 'अपनी कोहनी का सहारा लेकर शरीर को उठाया और उपदेश दिया' इन शब्दों को कहकर थम गया और रुक-रुककर बोल उठा, 'जानते हो मैंने रामकृष्ण परमहंस के प्रसंग में यह देखा है।' और तब मानसपटल पर ऐसे व्यक्ति की कथा उभर आयी, जिसके भाग्य में उस महान् उपदेष्टा से उपदेश लेना लिखा था और

जो सौ मील चलकर तब काशीपुर पहुँचा, जब वे मृत्यु-शय्या पर थे।"

हमें स्वयं स्वामीजी के करुणा से भरे हृदय का स्मरण आता है--उन्होंने किस प्रकार अपना अन्तिम दिन आखिरी क्षण तक काम करते करते बिताया। अपने देहावसान से कुछ ही दिन पहले स्वामीजी अपने शिष्य शरत् चक्रवर्ती के साथ वार्तालाप कर रहे थे। स्वामी ब्रह्मानन्दजी ने शिष्य को डाँटा कि यह जानते हुए भी कि स्वामीजी अस्वस्थ हैं, वह नाहक गम्भीर विषयों पर चर्चा करके उन्हें थका दे रहा है। यह सुन स्वामीजी अपने गुरुभाई से बोले, "तुम्हारे डाक्टरों के प्रतिबन्ध की कौन परवाह करता है ? ये लोग मेरे लड़के हैं। यदि इन्हें सीख देने में मेरा शरीर नष्ट भी हो जाता है तो इसकी कौन परवाह करता है ?" यहाँ तक कि अपनी महासमाधि के दिन, ४ जुलाई १९०२ को, उन्होंने तीन घण्टे तक ब्रह्मचारियों को संस्कृत व्याकरण पढ़ाया तथा स्वामी प्रेमानन्दजी के साथ वैदिक विद्यालय की स्थापना एवं अन्य विषयों पर बातचीत करते हुए वे लम्बी दूर तक घूमते रहे।

सत्य ही स्वामीजी बुद्ध और श्रीरामकृष्ण के साथ, यही क्यों, समूचे विश्व के साथ, एक हो चुके थे। निम्नलिखित घटना का वर्णन श्रीरामकृष्ण के एक अन्तरंग शिष्य स्वामी विज्ञानानन्दजी ने किया था, जो सिद्ध करता है कि कैसे बुद्ध के ही समान स्वामीजी का समवेदनशील हृदय भी समग्र विश्व के साथ एक हो गया था—यहाँ तक कि पृथ्वी में पीड़ा की एक तरंग भी उनके हृदय में अपनी अनुगूंज उठा देती।

स्वामीजी बेलुड़ मठ में एक रात लगभग एक बजे अपने कमरे से बाहर निकल आये और बरामदे में चहल-कदमी करने लगे । स्वामी विज्ञानानन्दजी ने यह देखा तो स्वामीजी के पास जाकर पूछा, "क्या तुम्हें नींद नहीं आ रही है ?" स्वामीजी ने उत्तर में कहा, "देख पेसन, मैं गहरी नींद में सोया हुआ था कि अचानक मुझे धक्का लगा; सोचा किसी ने मुझे धक्का दिया होगा, और मेरी नींद टूट गयी; . . . लगता है कहीं कोई दुर्घटना घट गयी है, जिसके फलस्वरूप मनुष्य बड़े दुःख-कष्ट में हैं । उसी ने मुझे जगा दिया ।" यह सुन विज्ञानानन्दजी मन में हँसे, क्योंकि यह मानने योग्य बात नहीं थी । पर सुबह उन्होंने अखबार में देखा कि फिजी के पास कहीं पर ज्वालामुखी भड़क उठी है, जिससे बहुत धन-जन का नाश हुआ है । विज्ञानानन्दजी यह सोच आश्चर्य-चकित रह गये कि कलकत्ते से ५,००० मील की दूरी पर घटे संकट ने किस प्रकार स्वामीजी की नींद को तोड़ दिया ! उन्हें ऐसा लगा कि स्वामीजी का नाड़ी-मण्डल सीस्मोग्राफ (भूकम्प मापने का यंत्र) से भी अधिक संवेदनशील हो गया है । जो स्वामीजी को अन्तरंग रूप से जानते थे, उनके लिए वे सचमुच ही इस युग में बुद्ध के अवतार थे ।

o

आधुनिक जगत् को विवेकानन्द की देन

ए. एल. बाशम

(भारतीय इतिहास के क्षेत्र में डा० बाशम का नाम सुप्रसिद्ध है। वे १९४८ ई. में लन्दन विश्वविद्यालय में भारतीय इतिहास विषय के व्याख्याता थे। आप १९६५ ई. में आस्ट्रेलिया के राष्ट्रीय विश्वविद्यालय में एशियाई सभ्यता विभाग के प्रमुख प्राध्यापक नियुक्त हुए। आपके द्वारा लिखित अनेक पुस्तकों में 'The Wonder that was India' विशेष प्रसिद्ध है, जिसका हिन्दी अनुवाद भी 'अद्भुत भारत' नाम से प्रकाशित हो चुका है। इसके अतिरिक्त आपने 'The Cultural History of India' नामक एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ का भी सम्पादन किया है। कुछ वर्ष पूर्व आप कलकत्ता की एशियाटिक सोसायटी में 'विवेकानन्द चेयर' के लिए प्राध्यापक नियुक्त होकर भारत आये और यहीं आपका देहावसान भी हुआ। उनका प्रस्तुत लेख हमारे लन्दन केन्द्र द्वारा प्रकाशित 'Swami Vivekananda in East and West' ग्रन्थ से साभार गृहीत और अनुवादित हुआ है। अनुवादक हैं स्वामी विदेहात्मानन्द।—स०)

नरेन्द्रनाथ दत्त, जो बाद में स्वामी विवेकानन्द हुए, के जन्म के सौ वर्ष* बाद भी आज विश्व-इतिहास की तुला पर उनके महत्त्व का मूल्यांकन कर पाना अत्यन्त कठिन है। किसी पाश्चात्य इतिहासकार अथवा अधिकांश भारतीय इतिहासकारों के लिए भी यह कार्य उनके देहान्त के समय जितना कठिन था, अब उससे कहीं अधिक ही कठिन हो गया है; क्योंकि तब से अब तक के अन्तराल के वर्षों में होनेवाली अनेक विस्मयकारी एवं अप्रत्याशित घटनाओं से ऐसा संकेत मिलता है कि आनेवाली शताब्दियों में, विशेषकर जहाँ तक एशिया का सवाल है, वे आधुनिक

---

* अब एक सौ पचीस वर्ष।

विश्व को गढ़नेवाले लोगों में अन्यतम के रूप से याद किये जाएँगे और भारतीय धर्म के सम्पूर्ण इतिहास में वे सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण व्यक्तियों में से एक के रूप में गिने जाएँगे, जिनके महत्त्व की तुलना शंकर और रामानुज के समान महान् आचार्यों से ही हो सकती है; परन्तु कबीर, चैतन्य और दक्षिण भारत के आल्वार एवं नायनार आदि स्थानीय और आंचलिक सन्तों की तुलना में तो वे निःसन्देह अधिक महत्त्वपूर्ण थे।

दूसरी ओर हिन्दू धर्म के इतिहास का सर्वांगीण दृष्टि से अवलोकन करने पर हम स्वामी विवेकानन्द को कोई नया पथ निर्माण करते नहीं पाते और न ही उन्हें एक प्रतिक्रियावादी के रूप में पाते हैं, जैसा कि इस शताब्दी के प्रारम्भ में कुछ सुयोग्य मिशनरियों ने माना था। यहाँ पर मैं विशेषकर रेवरेण्ड जे. एन. फरकुहार के बारे में सोच रहा हूँ, जो अपने काल में हिन्दू धर्म के इतिहास के एक महान् ज्ञाता थे और स्काटिश प्रेसबिटेरियन दृष्टिकोण की सीमा में रहते हुए उसके प्रति यथासम्भव सहानुभूतिसम्पन्न भी थे। फरकुहार ने स्वामीजी को मूलतः एक पुरातनपन्थी और प्रतिक्रियावादी शक्ति के रूप में देखा था, जो बीते हुए अतीत को फिर से लाने का प्रयास कर रहे थे।

वस्तुतः इन दोनों रेखाचित्रों में से कोई भी पूर्णतः न्यायसंगत नहीं है। उनके महान् व्यक्तित्व के प्रति न्याय करने में हम तभी सक्षम होंगे, जब हम उनके उन पूर्ववर्तियों के प्रति भी न्याय करें, जिन्होंने उनके पहले ही हिन्दू धर्म में पुनर्जागरण की प्रक्रिया आरम्भ की और जो उनसे होते हुए बाद में श्री अरविन्द,

महात्मा गाँधी और विनोबा भावे जैसे शिक्षकों के कार्य के माध्यम से जारी रही। हमें राममोहन राय का स्मरण करना होगा, जो इन सबमें अग्रणी थे। अनेक मायनों में उन्होंने अपने बाद के सुधारकों से भी कहीं अधिक पाश्चात्य विचारों, आदर्शों एवं मूल्यों के साथ समझौता कर लिया था। उन्होंने युक्तिसम्मत विचारों पर आधारित एक तरह के हिन्दूकृत यूनीटेरियनिज्म (एकव्यक्तिवाद) का प्रचार किया, जिसका काफी कुछ उन्होंने अपने ईसाई मिशनरी मित्रों से सीखा था। तदुपरान्त देवेन्द्रनाथ ठाकुर थे, जिन्होंने ब्राह्मसमाज को थोड़ा अधिक ही रहस्य-वादी मोड़ दिया; फिर केशवचन्द्र सेन हुए, जो अपनी आस्था में बड़े उदारवादी थे, व्यवहार में अपने पूर्व-वर्तियों से कहीं अधिक राष्ट्रवादी थे और जिन्होंने ब्राह्म आन्दोलन को थोड़ी अधिक ही भारतीयता प्रदान की, पर साथ ही इसका विभाजन भी किया और इस प्रकार सम्भवत: इसके द्रुत विघटन में सहायता की।

हमें ऐसे लोगों पर भी विचार करना होगा, जिन्हें अथवा जिनके बारे में विवेकानन्द जानते थे। यहाँ विशेषकर मैं दयानन्द सरस्वती के बारे में सोचता हूँ, जिन्हें जे. एन. फरकुहार ने विवेकानन्द के साथ ही प्रतिक्रियावादी की श्रेणी में रखा था। वस्तुत: दयानन्द स्वयं भी एक महान् सुधारक थे और उनके सुधार अब भी आर्य समाज के रूप में विद्यमान हैं। परन्तु वेदों की अपनी मनमानी व्याख्या को उन्होंने अपने सिद्धान्तों का आधार बनाया, जो कि युक्तिवादी विश्लेषण के आलोक में टिक नहीं सकता।

उनके आन्दोलन का प्रभाव भारत के उत्तरी अंचलों के अतिरिक्त और कहीं अधिक नहीं फैला।

हमें विवेकानन्द के अद्भुत गुरु रामकृष्ण परमहंस का भी स्मरण करना होगा, जो एक बड़े सरल प्रकृति के व्यक्ति थे। उन्होंने कुछ लिखा नहीं, परन्तु अपने काल की बंगाली विचारधारा के सम्पूर्ण वातावरण पर अद्भुत प्रभाव विस्तारित किया। रामकृष्ण-विवेकानन्द तथा ईसामसीह-सेण्ट पाल की समरूपता में सम्भव है कोई तात्पर्य निहित हो। इसमें कोई सन्देह नहीं कि विवेकानन्द को अपने अनेक महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त और अपनी अधिकांश प्रेरणा अपने गुरुदेव से प्राप्त हुई थी, परन्तु उन्होंने उन पर अपनी निजी व्याख्या की थी

मेरा विश्वास है कि महान् स्वामी विवेकानन्द का विश्व-इतिहास में सर्वदा ही एक महत्त्वपूर्ण स्थान बना रहेगा, क्योंकि समकालीन भारतवर्ष के किसी भी अन्य शिक्षक की तुलना में कहीं अधिक प्रभावी ढंग से उन्होंने अपने देशवासियों को प्राचीन के साथ अर्वाचीन का सामंजस्य करना सिखाया था।

उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरकाल में तथा वर्तमान शताब्दी के पहले दशक में भारत की समस्त धार्मिक, सांस्कृतिक, कलाविषयक और साहित्यिक परम्पराओं के धीरे धीरे, पर निश्चित रूप से, लोप हो जाने का खतरा उत्पन्न हो गया था। शिक्षित लोग अधिकाधिक संख्या में पूरी तरह पश्चिमी विचारधारा और जीवनपद्धति को अपनाते हुए, बहुधा जान-बूझकर अपने देश की प्राचीन संस्कृति को विस्मृत करने लगे थे।

उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त तक (विश्व के)

बहुत से लोग, और यहाँ तक कि भारतवासी भी, सोचने लगे थे कि एक-आध पीढ़ी के भीतर ही सम्पूर्ण हिन्दुस्तान धर्मान्तरित होकर किसी न किसी ईसाई सम्प्रदाय के अधीन हो जाएगा । फिर आगे चलकर यह स्पष्ट हो गया कि भारत भले ही ईसाई न होवे, पर सम्भवत: भारत का शिक्षित वर्ग तो अवश्य नास्तिक जड़वादी बन जाएगा । वह खतरा (जिसे कुछ लोग खतरा नहीं, वरन् अच्छी बात मानते हैं) अब भी बरकरार है ।

अपनी पीढ़ी के किसी भी आचार्य से विवेकानन्द ने भारतवर्ष को कहीं अधिक स्वाभिमान सिखाया, अपने देशवासियों को अपनी परम्परागत संस्कृति, अपने परम्परागत मूल्य और अपना परम्परागत जीवन-दर्शन अपनाने की कहीं अधिक प्रेरणा दी; पर साथ ही यह भी कहा कि उन्हें वैसे का वैसा ही ग्रहण मत करो, वरन् आवश्यकतानुसार उन्हें गढ़ लो, बदल लो, सूखी डण्ठलों को काटकर नयी शाखाएँ उगा लो, पाश्चात्य एवं अन्य स्रोतों से गृहीत नवीन विचारों को यहाँ-वहाँ आरोपित कर लो, पर ध्यान रखो कि मूल वृक्ष जीवन्त और समृद्ध बना रहे। इस कार्य के लिए भारतवर्ष अन्य किसी भी व्यक्ति की अपेक्षा स्वामी विवेकानन्द का कहीं अधिक ऋणी है । और जो महान् नेतागण उनके कार्य को अलग अलग प्रकार से आगे बढ़ाते रहे, वे सभी अधिकांशत: अपनी प्रेरणा के लिए प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से विवेकानन्द के ऋणी हैं । इनमें से मैं विशेषकर महात्मा गाँधी के बारे में सोचता हूँ; उन्होंने भी

मूलभूत प्राचीन हिन्दू शरीर में अभिनव विचारों को आत्मसात् करने तथा उन्हें पूर्णतः स्वाभाविक रूप देने में अद्भुत प्रतिभा का परिचय दिया।

विवेकानन्द ने अपने देशवासियों को अपनी विरासत पर लज्जित होना त्यागकर गर्व करना सिखाया; ऐसे विचारों से विरत किया कि 'हमारी आस्था बड़ी दुरवस्था को प्राप्त हो गयी है!' 'जरा सतीप्रथा को तो देखो!' 'काली के सामने होनेवाली पशुबलि को तो देखो!' आदि आदि; और यही नहीं, उन्होंने भविष्य के लिए आशावादी होना सिखाया। उन्होंने पीछे मुड़कर सुदूर अतीत की ओर, पौराणिक सत्ययुग की ओर न देखते हुए, भविष्य में उसकी पुनःस्थापना की सम्भावना पर ध्यान देने का आह्वान किया और कहा कि हम अपनी गुलामी की मनोवृत्ति के वशीभूत हो अपने अल्पकालिक शासकों का अन्धानुकरण न करके, केवल उनमें जो कुछ अच्छा हो उसी का ग्रहण करें, जो कुछ आवश्यक हो वही उनसे सीखें।

विवेकानन्द के सन्देश का एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण वैशिष्ट्य यह है कि उन्होंने निर्धनों और पीड़ितों की सेवा को मानव के मूलभूत धार्मिक कर्तव्यों में से एक बताकर प्रायः एक नया ही पथ प्रशस्त किया। हो सकता है कि चैतन्य महाप्रभु और केशवचन्द्र सेन ने भी इस दिशा में उनके पहले कुछ कदम उठाये हों। यह कहना बिलकुल गलत है कि हिन्दू धर्मग्रन्थ अपने मानव-भाइयों के प्रति ऐसी व्यावहारिक स्नेहपूर्ण सेवा पर बल नहीं देते; वे निश्चय ही देते हैं। प्राचीन भारत के, और विशेषकर दक्षिण के, धर्म-

ग्रन्थों मे ऐसे कई उद्धरण दिये जा सकते हैं, जहाँ इस सद्‌गुण पर विशेष बल दिया गया है और जिन्हें ईसाई धर्मग्रन्थों के ऐसे ही सन्देश देनेवाले अनेक सुप्रसिद्ध अंशों के समकक्ष रखा जा सकता है। परन्तु भारत में इस क्षेत्र में विवेकानन्द ही महात्मा गाँधी के एक ऐसे सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण पूर्ववर्ती थे, जिन्होंने निर्धनों एवं पीड़ितों के कल्याणार्थ विधेयात्मक सेवाकार्यों को बढ़ावा दिया।

मेरा यह भी विश्वास है कि विवेकानन्द विश्व-इतिहास में अपने उस कार्य को प्रारम्भ करने के लिए भी सदा स्मरण किये जाएँगे, जिसे स्वर्गीय डा० सी. ई. एम. जोड ने एक बार 'the counter-attack from the East' (प्राच्य का प्रति-आक्रमण) कहा था। प्रायः एक हजार वर्ष पूर्व दक्षिण-पूर्व एशिया और चीन में बौद्ध एवं हिन्दू धर्म का प्रचार करते हुए भ्रमण करनेवाले भारतीय धर्म-प्रचारकों के बाद, (आधुनिक काल में) वे ही सर्वप्रथम एक ऐसे धर्मशिक्षक हुए, जिन्होंने भारत के बाहर प्रभाव का विस्तार किया। यहाँ पर हम केशवचन्द्र सेन* के रूप में एक छोटा सा अपवाद पाते हैं, जिन्होंने लन्दन तथा अन्य स्थानों में कुछ व्याख्यान दिये, परन्तु उनका प्रभाव नगण्य था। पश्चिम में उन दिनों पहले से ही ऐसे लोग थे, जिन्हें हिन्दू धर्म की महिमा तथा उसमें निहित सौन्दर्य की थोड़ी समझ थी और वे उसके प्रति प्रशंसा का भाव भी रखते थे; परन्तु आधुनिक

* उन्होंने स्वामीजी के समान विशुद्ध हिन्दू धर्म का प्रचार नहीं किया था।

जगत् के इतिहास में ऐसा पहली बार हुआ कि एक भारतीय ने भारत की सीमा के बाहर जाकर शिक्षा दी और वे अपने व्यक्तिगत आकर्षण, गहन आध्यात्मिक भाव तथा अद्भुत वाग्मिता के द्वारा पाश्चात्य लोगों को अपने अनुयायियों के रूप में भारत लाकर उन्हें अपने कार्य में नियोजित करने में समर्थ हुए।

एशिया का यह 'प्रति-आक्रमण' अब भी किसी न किसी रूप में जारी है और अच्छा खासा प्रभाव उत्पन्न कर रहा है। जैसी कि हम आशा कर सकते हैं, यह एक बड़ा ही मैत्रीपूर्ण अनाक्रामक प्रत्याक्रमण है। धीरे धीरे, परन्तु निश्चित रूप से, अब हमें निष्ठावान् और ऊपरी तौर से कट्टरवादी ईसाइयों, यहूदियों एवं धर्महीन अविश्वासियों के मुख से भी हिन्दू विचारधारा अथवा भारतीय ढंग के विचार सुनने को मिल जाते हैं। उसी प्रकार अब हिन्दुओं के मुख से भी ईसाई धर्म से प्रेरित अथवा ईसाई ढंग की बातें सुनने को मिल जाती हैं। यह एक उभयमुखी यातायात है। यहूदी, ईसाई आदि पाश्चात्य धर्म और यहाँ तक कि कुछ हद तक इसलाम भी, जो कभी मूसा द्वारा सुने गये यहोवा के इस वाक्य कि 'तुम मेरे सिवाय दूसरा कोई ईश्वर नहीं मानोगे', के आधार पर दूसरों का बहिष्कार करते थे, अब अधिकाधिक सबको स्वीकार करने लगे हैं। उपर्युक्त उद्धरण मैंने यहूदी धर्मग्रन्थ Exodus (निष्क्रमण) से दिया है, जो ईसाई बाइबिल का भी एक अंश है। इसकी तुलना भगवद्गीता की निम्नलिखित पंक्ति से भी की जा सकती है—"तुम चाहे जिस देवता की

भी उपासना क्यों न करो, मैं ही तुम्हारी प्रार्थना का उत्तर देता हूं।"

सम्पूर्ण विश्व अथवा कम से कम इसके धार्मिक लोग तो अवश्य ही अब अधिकाधिक अनुभव करने लगे हैं कि अन्य धर्मों के लोग भी अपने अपने तरीके से वही युद्ध लड़ रहे हैं, जिसे पारसी लोग प्रकाश और अन्धकार के बीच की लड़ाई कहा करते हैं। ईसाई, हिन्दू, बौद्ध और सैद्धान्तिक दृष्टि से जगत् के शान्तिप्रिय अधिकांश धर्मों में एक धार्मिक व्यक्ति के जीवन की तुलना एक सैनिक से की गयी है और कई दृष्टियों से यह ठीक भी है। अतः इस उपमा को अब हम यदि और भी आगे बढ़ाएं, तो भले ही हिन्दू, मुसलमान, ईसाई तथा अन्य धर्मों के लोग स्वाभाविक रूप से अपनी अपनी सेनाओं के तौर-तरीकों को सर्वश्रेष्ठ मानते हैं, पर वे अब अन्य धर्म के लोगों को अपना शत्रु मानने के बदले अपना मित्र मानने को अधिकाधिक तैयार होने लगे हैं। सेण्ट पाल की शब्दावली में अब अहंकार, अनास्था और 'उच्च स्थानों में आध्यात्मिक दुर्बलता' ही उनके सच्चे शत्रु हैं। प्रत्येक धर्म सहस्रों वर्ष से अन्धकार की शक्तियों के खिलाफ अपना निजी युद्ध लड़ता रहा है और इनके नेतागण बहुधा अपने मुख्य संग्राम से मुड़कर उन लोगों से भिड़ गये, जो उनके अपने शत्रुओं से ही लड़ रहे थे। इस प्रकार विविध धर्मों के बीच आपसी मित्रता स्थापित करने का प्रयास करनेवालों में अग्रगामी होने के कारण स्वामी विवेकानन्द का यह संसार महान् ऋणी है।

स्वामी विवेकानन्द के सन्देश को सर्वोत्कृष्ट ढंग से प्रस्तुत करने के लिए सम्भवतः उन्हीं के लेखन में से उद्धरण देना उचित होगा।

भारत की अपनी यात्रा के दौरान और अपने कुछ भारतीय छात्रों के साथ वार्तालाप करते समय मुझे कभी कभी स्वामी विवेकानन्द की बड़ी विचित्र व्याख्या सुनने को मिली है। "स्वामी विवेकानन्द एक मानवतावादी थे। उनके लिए मानवता ही ईश्वर थी। उन्होंने यही सिखाया कि हम दूसरों का भला करें और दीन-दुःखियों की सहायता करें। आज यदि वे जीवित होते तो सम्भवतः एक साम्यवादी या समाजवादी होते। रामकृष्ण मिशन ने ध्यान तथा अतीन्द्रिय तत्त्वों पर बल देकर उनके सिद्धान्तों को विकृत कर दिया है।" ऐसे विचार बहुधा युवा भारतवासियों से सुनने को मिलते हैं, जो इन महापुरुष के उपदेशों को पूर्णतः समझे बिना ही उनके प्रति विशेष सम्मान का भाव रखते हैं।

श्रीयुत केनेथ वाकर ने एक बड़ा ही प्रभावी वाक्य बनाया है—'मानवतावादी अर्थात् एक ढीला अनुत्साही जीव'। स्वामी विवकानन्द सही में हम सबके समान ही एक मानवतावादी थे, पर वे उससे काफी कुछ अधिक थे। हम सभी मानवतावाद में विश्वासी हैं, हम मानवजाति की सेवा करने में, भलाई करने में आस्था रखते हैं और एक दृष्टि से मानवतावादी हुए बिना कोई भी एक भला आदमी नहीं हो सकता; परन्तु जब हम मानवतावाद में ही सिमटकर रह जाते हैं और मात्र भौतिक दृष्टि से ही मानवता की भलाई में लग जाते हैं, तब हम स्वामीजी से काफी पिछड़ जाते हैं और सम्भव

है कि हमारे कार्य का हमारी आशा से कुछ अलग ही परिणाम हो। अमेरिका और यूरोप से अनेक प्रमुख बुराइयाँ दूर की जा चुकी हैं—संक्रामक बीमारियों पर नियंत्रण हो चुका है, शायद ही कोई भुखमरी का शिकार होता है, अधिकांश लोग साक्षर हो चुके हैं और कुछ देशों में तो प्रति घर में कार, फोन, टी.वी. और फ्रीज हैं; परन्तु साथ ही पाश्चात्य जगत् को आज पिछले किसी भी काल से समूल विनाश का कहीं अधिक खतरा महसूस हो रहा है। फिर जिस अनुपात में शारीरिक रोग कम हो रहे हैं, उसी अनुपात में मानसिक रोगों में वृद्धि हो रही है। यूरोप और अमेरिका जो रूसो के काल से ही मानवतावाद को किसी न किसी रूप में अपना सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण आदर्श मानते रहे हैं, अब बीसवीं शताब्दी में उसके विज्ञापक नहीं रह गये हैं।

अस्तु, स्वामी विवेकानन्द के ग्रन्थों में हमें कुछ ऐसे उद्धरण मिल जाते हैं, जिन्हें यदि हम सन्दर्भ से अलग करके पढ़ें तो उन्हें लगभग एक साम्यवादी के नमूने के रूप में ले सकते हैं। यथा—"हमें ऐसे धर्म की आवश्यकता है, जिससे हम मनुष्य बन सकें।...हमें ऐसी सर्वांग-सम्पन्न शिक्षा चाहिए, जो हमें मनुष्य बना सके।... हमें ऐसे सिद्धान्तों की जरूरत है, जिससे हम मनुष्य हो सकें। और यह रही सत्य की कसौटी—जो भी तुमको शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक दृष्टि से दुर्बल बनाये उसे जहर की भाँति त्याग दो, उसमें जीवन-शक्ति नहीं है, वह कभी सत्य नहीं हो सकता। सत्य तो बल-प्रद है, वह पवित्रता है, वह ज्ञानस्वरूप है। सत्य तो वह है जो शक्ति दे, जो हृदय के अन्धकार को दूर कर

दे, जो हृदय में स्फूर्ति भर दे।...अब वीर्यवान् होने का प्रयत्न करो, कमजोर बनानेवाली इन सब रहस्य-विद्याओं को तिलांजलि दे दो...। सत्य जितना ही महान् होता है, उतना ही सहज बोधगम्य होता है—स्वयं अपने अस्तित्व के समान सहज।"*

अथवा—

"आगामी पचास वर्ष के लिए...हमारे मस्तिष्क से व्यर्थ के देवी-देवताओं के हट जाने में कुछ भी हानि नहीं है। अपना सारा ध्यान इसी एक ईश्वर पर लगाओ, हमारा देश ही हमारा जाग्रत् देवता है। सर्वत्र उसके हाथ हैं, सर्वत्र उसके पैर हैं और सर्वत्र उसके कान हैं। समझ लो कि दूसरे देवी-देवता सो रहे हैं। जिन व्यर्थ के देवी-देवताओं को हम देख नहीं पाते, उनके पीछे तो हम बेकार दौड़ें और जिस विराट् देवता को हम अपने चारों ओर देख रहे हैं, उसकी पूजा ही न करें?...

"सबसे पहले...जिसे तुम अपने चारों ओर देख रहे हो—'उसकी' पूजा करो।...ये मनुष्य और पशु, जिन्हें हम आस-पास और आगे-पीछे देख रहे हैं, ये ही हमारे ईश्वर हैं। इनमें सबसे पहले पूज्य हैं हमारे अपने देशवासी।" †

ये वाक्य सम्पूर्ण मानवजाति की एक विस्मयकर और लज्जास्पद टीका हैं और ये आज भी एक तरह से उतने ही सत्य हैं जितने कि स्वामीजी के व्याख्यान के समय थे। मानवजाति के पुनर्जागरण के लिए, निर्धनों के उत्थान के लिए और प्रत्यक्ष दीखनेवाले मानवीय

* 'विवेकानन्द साहित्य', खण्ड ५, पृ. ११९–२०।

† वही, पृ. १९३–९४।

दुःख-दुर्दशा को दूर करने के लिए विवेकानन्द ने जो पचास वर्ष का समय दिया था, वह अब बीत चुका है, पर आज भी जगत् में सम्भवतः उतने ही मानवीय दुःख और सन्ताप बने हुए हैं, भले ही ये दुःख उनके काल के दुःखों से भिन्न प्रकार के हों। परन्तु यदि हम इन उद्धरणों को उनके बाकी सन्देश के साथ मिलाकर पढ़ें तो स्पष्ट हो जाता है कि सर्वांगीण आध्यात्मिक जीवन के लिए अपने मानव-भाइयों की सेवा ही पर्याप्त नहीं है। सेवा को अपने आप में साध्य नहीं होना चाहिए। "पत्नी के लिए पत्नी प्रिय नहीं होती अपितु आत्मा के लिए पत्नी प्रिय होती है"——ऋषि याज्ञवल्क्य ने जब बृहदारण्यक उपनिषद् के इन सुप्रसिद्ध वाक्यों का उच्चारण किया तो उनका तात्पर्य आध्यात्मिक आत्मा से था। भक्ति की दृष्टि से हम 'आत्मा के लिए' का अनुवाद 'ईश्वर के लिए' कर सकते हैं।

इसमें सन्देह नहीं कि स्वामी विवेकानन्द दीन-दरिद्रों की उन्नति में, शिक्षा के प्रसार में, चिकित्सा-सेवाओं के विस्तार में विश्वासी थे और चाहते थे कि युवा भारतवासी अपने पाँवों पर खड़े होकर अपनी स्वाधीनता तथा उच्चतर वस्तुओं के लिए संघर्ष करें, परन्तु इसके साथ ही उन्हें आत्मा के जीवन में भी अत्यन्त गहरी आस्था थी। इसलिए मैं स्वामीजी के कुछ अन्य वाक्य भी उद्धृत करता हूँ——

"हम देखते हैं कि यह सब विविध सम्प्रदाय अन्त में पूर्ण ऐक्य के साधारण केन्द्र में जा मिलते हैं। हम आरम्भ सदैव द्वैत से करते हैं। ईश्वर एक पृथक् सत्ता है और मैं एक पृथक् सत्ता हूँ। फिर दोनों के बीच प्रेम

उत्पन्न होता है। मनुष्य ईश्वर की ओर जाने लगता है और ईश्वर मानो मनुष्य की ओर आने लगता है। मनुष्य ईश्वर के प्रति पितृभाव, मातृभाव, सख्यभाव, मधुरभाव इत्यादि जीवन के विभिन्न भावों को ग्रहण करता है; और अन्तिम लक्ष्य की प्राप्ति तब होती है, जब वह अपने उपास्य से एकरूप हो जाता है। 'तू ही मैं, मैं ही तू। तुझे पूजकर मैं अपनी पूजा करता हूँ और अपने को पूजकर तेरी।' यह उसी की पराकाष्ठा है, जिसे लेकर उसने अपनी साधना आरम्भ की थी। आरम्भ में मनुष्य का प्रेम वस्तुतः आत्मा से ही था, लेकिन क्षुद्र अहंकार के प्रभाव से वह प्रेम स्वार्थी बन गया। अन्त में जब आत्मा का क्षुद्र भाव नष्ट होकर उसका अनन्त स्वरूप प्रकाशित हो गया, तब उस प्रेम की पूर्ण दीप्ति प्रकट हो गयी। वह ईश्वर, जो आरम्भ में कहीं दूर स्थान में अवस्थित सा मालूम होता था, अब अनन्त प्रेमस्वरूप हो गया। स्वयं मनुष्य का ही रूपान्तर हो गया। वह ईश्वर के निकट आता जा रहा था, अपने में भरी हुई निस्सार वासनाओं को हटाता जा रहा था। वासनाओं का लोप होते ही उसकी सारी स्वार्थ-बुद्धि लुप्त हो गयी, और चरम लक्ष्य पर पहुँचकर उसने देखा कि प्रेम, प्रेमी तथा प्रेमास्पद सब एक ही हैं।"*

उपसंहार के रूप में मैं स्वामी विवेकानन्द के शिकागो धर्ममहासभा में प्रदत्त अन्तिम व्याख्यान में से उन सुप्रसिद्ध और मर्मस्पर्शी शब्दों को दुहराना चाहूँगा, जिन्होंने उन्हें अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति का व्यक्ति बना दिया था—

"वह जो हिन्दुओं का ब्रह्म, पारसियों का अहुर्मज्द,

* वही, खण्ड ३, पृ. २५७।

बौद्धों का बुद्ध, यहूदियों का जिह्वोवा और ईसाइयों का स्वर्गस्थ पिता है, आपको . . . शक्ति प्रदान करे । . . . ईसाई को हिन्दू या बौद्ध नहीं हो जाना चाहिए, और न हिन्दू अथवा बौद्ध को ईसाई ही । पर हाँ, प्रत्येक को चाहिए कि वह दूसरों के सार-भाग को आत्मसात् करके पुष्टि-लाभ करे और अपने वैशिष्ट्य की रक्षा करते हुए अपनी निजी वृद्धि के नियम के अनुसार वृद्धि को प्राप्त हो । . . . शुद्धता, पवित्रता और दयाशीलता किसी सम्प्रदायविशेष की ऐकान्तिक सम्पत्ति नहीं है, एवं प्रत्येक धर्म ने श्रेष्ठ एवं अतिशय उन्नतचरित्र स्त्री-पुरुषों को जन्म दिया है । . . . शीघ्र ही, सारे प्रतिरोधों के बावजूद, प्रत्येक धर्म की पताका पर यह लिखा रहेगा— 'सहायता करो, लड़ो मत'; 'पर-भाव-ग्रहण, न कि पर-भाव-विनाश' 'समन्वय और शान्ति, न कि मतभेद और कलह' !" †

○

† वही, खण्ड १, पृ. २१, २६–२७ ।

स्वामीजी और हिन्दू समाज

सर जदुनाथ सरकार
सी.आई. ई., डी. लिट.

(लेखक सुप्रसिद्ध इतिहासकार एवं शिक्षाविद् रहे हैं। उन्होंने मुगलकालीन भारत पर अनेक ग्रन्थों की रचना की है। वे कई विश्वविद्यालयों में अँगरेजी साहित्य और इतिहास विभाग के अध्यक्ष रहे। दो वर्ष तक वे कलकत्ता विश्वविद्यालय के अवैतनिक कुलपति भी रहे। प्रस्तुत लेखक 'प्रबुद्ध भारत' के सितम्बर १९४३ अंक से साभार गृहीत और अनुवादित हुआ है। अनुवादक हैं स्वामी विदेहात्मानन्द।—स०)

तब से पचास* वर्ष बीत चुके, जब एक अज्ञात और विचित्र वेषधारी युवा भारतीय संन्यासी ने विश्व के सर्वाधिक प्रगतिशील लोगों के समक्ष यह दावा किया कि हिन्दू धर्म आधुनिक सभ्य जगत् के सामने लज्जित, लाचारी से काँपनेवाला, ईसाई मिशनरियों के आक्रमण के समक्ष पीठ दिखानेवाला, दिवालोक से भयभीत एक उल्लू के समान अपने रूढ़िवाद के कोटर में रहनेवाला एक अपमानित और भ्रष्ट अन्धविश्वास मात्र नहीं है। उन्होंने साहसपूर्वक यह दावा किया कि हिन्दू धर्म के पास विश्व को देने के लिए एक सन्देश है, जिसकी आधुनिक सभ्यता को नितान्त आवश्यकता है और जिसकी उपेक्षा करने में जगत् का अपना ही नुकसान है। इस प्रकार विश्व धर्ममहासभा के अखाड़े में हिन्दुओं का जीवनदर्शन एवं तत्त्वज्ञान एक चुनौती के रूप में प्रकट हुआ और तब से वह उसी रूप में सुप्रतिष्ठित है।

यूरोप और अमेरिका इस दावे की दिलेरी पर

---

* अब लगभग पंचानबे वर्ष।

चकित रह गये; यहाँ तक कि भाई प्रताप† भी बड़-बड़ाये कि यह सब शब्दाडम्बर और शेखी मात्र है। हिमालय से कन्याकुमारी तक पूरा भारत भी अभूतपूर्व रूप से जाग उठा। परन्तु हमारे राष्ट्रीय अहं को तुष्ट करने और हिन्दू समाज के संरक्षण को पुष्ट करने के साथ ही क्या स्वामीजी का कार्य समाप्त हो गया? नहीं, यदि ऐसा होता तो अब तक वे भुला दिये गये होते; और यह उचित भी होता, क्योंकि एक चालबाजी के द्वारा जगत् को हमेशा के लिए भ्रम में नहीं रखा जा सकता। आइए, हम अत्यन्त परिवर्तनशील विगत अर्ध-शताब्दी का शान्तिपूर्वक सिंहावलोकन करते हुए विवेका-नन्द की वास्तविक उपलब्धि को स्पष्ट रूप से देखें, और यह भी देखें कि १८९३ ई. और अब में क्या अन्तर है।

श्रीरामकृष्ण के पहले भी भारत में सन्त-महात्मा हुए हैं और उनके बाद भी होंगे। १९०१ ई. की जन-गणना के अनुसार भारत में बावन लाख साधु-संन्यासी और फकीरों का निवास था और ऐसी भी मान्यता है कि उनमें से कुछ महात्माओं को ईश्वर का दर्शन हुआ था, जो अपनी इच्छा के अनुसार परमात्मा की अनुभूति कर सकते थे। यहाँ हमें श्रीरामकृष्ण और अन्य सच्चे महात्माओं के बीच कोई विशेष और महत्त्वपूर्ण भेद नहीं दिख पड़ता; परन्तु इन महात्माओं का कार्य सर्वदा व्यक्तिगत रहा है और उनका लक्ष्य रहा है—ब्रह्म-संस्पर्श के द्वारा आत्मशुद्धि। और इस कारण प्रकृति के अटल नियमानुसार उनके देहावसान के बाद ही उनके भौतिक सम्बन्धों की समाप्ति के साथ-साथ उनका कार्य

† ब्राह्मसमाज के सुप्रसिद्ध नेता रेव० प्रतापचन्द्र मजूमदार।

भी समाप्ति को पहुँच जाता है। उनके तिरोभाव के साथ ही उनके द्वारा प्रज्वलित ज्योति भी बुझ जाती है और फिर भावी पीढ़ियों को थोड़ी-बहुत प्रेरणा देने के लिए उनके कुछ लिपिबद्ध उपदेश मात्र बच रहते हैं। इस प्रकार हमारे लिए गुरु के द्वारा शिष्य की आन्तरिक शुद्धि की परम्परा का उच्छेद हो जाता है, जिसे तुलसीदासजी ने बड़े सुन्दर ढग से व्यक्त करते हुए लिखा है—'कोयले का मैला छूटै जब अगिन करै परबेश,' अर्थात् कोयले में अग्नि के प्रविष्ट होने पर ही वह अपनी कालिमा त्यागता है।

स्वामी विवेकानन्द ने संगठन बनाकर और उसे एक सुनियोजित दिशा प्रदान कर श्रीरामकृष्ण के पृथ्वी पर आगमन के उद्देश्य को पूरा करते हुए उसे स्थायी रूप दिया। यह ज्योति सर्वदा प्रज्वलित रहेगी बशर्ते कि हम अपनी प्राचीन हिन्दू विरासत के योग्य बने रहें। ईसाई धर्मग्रन्थों में ठीक ही लिखा है—"जैसे आत्मा के अभाव में शरीर निर्जीव हो जाता है, वैसे ही क्रिया के अभाव में श्रद्धा भी मृतवत् है।"

मैं यह स्वीकार करता हूँ कि विवेकानन्द के पहले भी हिन्दू समाज में अच्छे कार्य हुए हैं, परन्तु वे भिक्षा देने तथा स्कूलों-अस्पतालों को कभी-कभार दान देने तक ही सीमित थे, वे जाति एवं सम्प्रदाय से निरपेक्ष समाज-सेवा के रूप में नहीं थे; बनारस, हरिद्वार तथा अन्य स्थानों में रामकृष्ण मिशन द्वारा आज हमारी आँखों के सामने जो कार्य हो रहे हैं, वैसा कुछ नहीं था। हमारे पूर्वजगण किस प्रकार मानवता से अलग-थलग रहकर चिन्तन एवं जीवन-यापन करते थे इसे

तत्कालीन ब्रिटिश भारत की राजधानी, पाश्चात्य नव-प्रकाश के केन्द्र और भारतवासियों के लिए प्रथम अँगरेजी कालेज* के स्थान कलकत्ता में घटी निम्नलिखित घटनाओं से भलीभाँति समझ सकते हैं, जो केवल एक सौ बीस वर्ष (अब से १६५ वर्ष) पहले घटित हुई थीं।

कलकत्ता के बिशप हेबर ने जनवरी १८२४ ई. में अपने एक मित्र को लिखा था—"कुल मिलाकर हिन्दू बड़े जीवन्त, मेधावी और रोचक लोग हैं।...उनका धर्म जाति-व्यवस्था के द्वारा उनके हृदय को एक दूसरे के प्रति इतना निर्दय बना देता है कि बहुधा बड़े बीभत्स काण्ड हो जाते हैं। (मैं दस दिन पहले की एक घटना का उल्लेख कर रहा हूँ) एक यात्री एक गाँव की सड़क पर बीमार पड़ जाता है, किसी को मालूम नहीं कि उसकी क्या जाति है, अतः अपवित्र हो जाने के भय से कोई भी उसके पास तक नहीं फटकता, और एक पूरे समुदाय की आँखों के सामने वह काल के गाल में समा जाता है।...मैं जिस आदमी के बारे में लिख रहा हूँ वह ऐसी ही अवस्था में पड़ा हुआ था, जिसकी देखभाल उधर से होकर गुजरते हुए एक यूरोपियन ने की; परन्तु यदि वह मर जाता तो उसके अस्थिपंजर सड़क पर तब तक ऐसे ही पड़े रहते, जब तक कि गिद्ध उन्हें उठाकर न ले जाते।

"कुछ महीनों पूर्व मेरे एक मित्र को एक अभागा, बेकारी और दुःख का मारा, संग्रहणी रोग से ग्रस्त आदमी मिला, जो उनके अहाते में घुस आया था। वहाँ वह सड़क के किनारे दो दिन दो रात पड़ा रहा। उसके छः गज के दायरे में ही करीब बीस नौकर प्रतिदिन भोजन

* १८१८ ई. में हिन्दू कालेज की स्थापना हुई थी।

किया करते थे, पर किसी ने भी उसकी मदद नहीं की, किसी ने भी उसे बाहर के कमरे में पहुँचा देने तक की परवाह नहीं की।...जब इसके लिए उन लोगों को बुरा-भला कहा गया तो उनका उत्तर था, 'वह हमारी बिरादरी का नहीं है। तो फिर इसे कौन करता?' "

जब मैंने उपर्युक्त विवरण पहली बार पढ़ा—जो शिकागो व्याख्यान के बहुत पहले था—तब अपने हिन्दू समाज के बारे में मैंने अपने आपको बड़ा ही लज्जित और अपमानित महसूस किया था। यह विशालकाय हाथी बड़ी ही मोटी चमड़ीवाला था; उसके शरीर पर धूल जम रही थी, मक्खियाँ भिनभिना रही थीं, छोटे बच्चे सुरक्षित दूरी से उस पर पत्थर फेंक रहे थे और वह आलस्यपूर्वक आँखें मूँदे पड़ा हुआ घास चबा रहा था। परन्तु अब मुझे अपने जीवनकाल में ही ऐसे दिन देखने को मिल रहे हैं, जब बनारस, इलाहाबाद, बंगलौर या हरिद्वार में बिशप हेबर द्वारा वर्णित दृश्य देख पाना असम्भव हो गया है।

मैं इस बात से इन्कार नहीं करता कि विवेकानन्द के पहले भी कुछ उन्नति का कार्य हो रहा था, भारत-वासियों द्वारा थोड़ी-बहुत जाति-निरपेक्ष सेवा हो रही थी; परन्तु वे भारतीय ऐसे थे जो हिन्दू समाज की सीमा से परे जा चुके थे और जो भारत की मानवीय पीड़ा की दीर्घ काया की केवल त्वचा भर ही स्पर्श कर पाते थे। हाथी को जगाने का कार्य तब भी बाकी था और स्वामीजी ने ठीक यही कार्य सम्पन्न किया। उन्होंने हिन्दू समाज की विपुल सुप्त शक्ति, जनशक्ति और धनशक्ति को सत्कार्यों में नियोजित किया तथा वेदान्त-दर्शन के

लोकप्रिय उपदेशों को सभी प्रकार के सत्कार्यों के लिए प्रेरणा का स्रोत बताते हुए उसे आत्मशुद्धि के उच्चतर लक्ष्य के साथ जोड़ दिया।

यह कहना गलत है कि हिन्दुत्व के कायापलट की यह योजना भारत की ईसाइयत से उधार ली हुई है। बल्कि मैं तो कहूँगा कि आधुनिक ईसाई धर्म ने अपने उदाहरण के द्वारा हमें अपने महायान बौद्धधर्म की भूली-बिसरी विरासत की पुनः-प्राप्ति में मदद की है। जिस प्रकार ईसाई चर्च ने अपने प्रारम्भिक काल में रोमन इम्पीरियल सरकार के आधार पर अपना संगठन बनाया, जो कि आधुनिक विद्वानों के मतानुसार मुख्य रूप से उसके विश्वधर्म बनने में सहायक हुआ, उसी प्रकार स्वामीजी ने भी अपना संगठन बौद्ध मठ व्यवस्था से प्राप्त किया। यही कारण है कि स्वामी विवेकानन्द और उन्हीं का अनुसरण करती हुई भगिनी निवेदिता का बौद्धधर्म के प्रति इतना गहरा लगाव तथा प्रशंसा का भाव था और इसीलिए वे बौद्ध साहित्य का अध्ययन किया करते थे।

स्वामीजी ने श्रद्धा को कर्म के साथ जोड़ दिया और उनके द्वारा रोपित वृक्ष का उसके फल के द्वारा ही मूल्यांकन होगा। साठ वर्ष (आज १०५ वर्ष) से भी पहले जब जनरल बूथ ने साल्वेशन आर्मी की स्थापना की और उसके परोपकारी कार्यक्रम की घोषणा की, तो एक सम्पन्न अँगरेज ने प्रोफेसर टी. एच. हक्सले को एक हजार पौण्ड का चेक भेजते हुए उनसे अनुरोध किया कि यदि आप साल्वेशन आर्मी नामक इस नये आन्दोलन को सुयोग्य समझते हों तो संलग्न राशि उन्हें दान के रूप में भेज दें। दाता का वह दान वापस करते हुए

हक्सले ने लिखा––“मध्यकालीन युग में दरिद्र एवं रोगियों की सेवा के उद्देश्य से रोमन कैथलिक चर्च के अन्तर्गत अनेक संन्यासी-संघों की स्थापना हुई। शुरू-शुरू में उन लोगों ने बड़े उत्साह की सृष्टि की और उन्हें प्रभूत आर्थिक सहायता भी मिली। परन्तु कुछ वर्षों तक भलीभाँति कार्य करने के पश्चात् उनमें से प्रत्येक अधःपतित हो, अपने लोकोपयोगी कार्यों को भूलकर आलस्य, भोगासक्ति और दुराचार का अड्डा बन गया, अतः पोप ने उन सबको बर्खास्त करके नये संघों का गठन किया। यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि माल्वेशन आर्मी उत्साह, कार्य, धन, आलस्य, दुराचार और पतन के इस चक्र का एक अपवाद सिद्ध होगी।”

यही वह खतरा है, जो भारत में भी हमारे सामने उपस्थित है। स्वामी विवेकानन्द का संगठन भी कब तक अपने प्रतिष्टाता के शुद्ध आदर्शों को बनाये रखेगा तथा शिथिल एवं पश्चात्पद हुए बिना नर-नारायण की निःस्वार्थ सेवा में लगा रहेगा? स्वामीजी ने स्वयं यह खतरा भाँपा था। जब अपने सद्यःप्रतिष्ठित बेलुड़ मठ में उन्होंने पहली बार प्रवेश किया, तो अपने कनिष्ठ संन्यासी बन्धुओं की ओर उन्मुख होकर वे बोले, “ध्यान रहे, मेरे देहत्याग के बाद कहीं तुम लोग इस मठ को बावाजी लोगों के अखाडे में न बदल डालना।”

१९०४ ई. के अक्तूबर में मैंने बोधगया में भगिनी निवेदिता, सर जे. सी. बोस, रवीन्द्रनाथ ठाकुर, स्वामी सारदानन्द और गुप्त महाराज* के साथ कुछ अविस्मरणीय दिन बिताये थे। उस समय शेषोक्त सन्यासी के

* स्वामी विवेकानन्द के प्रथम संन्यासी शिष्य स्वामी सदानन्द।

साथ मेरी कुछ इस तरह की महत्त्वपूर्ण चर्चा हुई थी कि रामकृष्ण मिशन का भविष्य इस बात पर निर्भर करता है कि मिशन के वरिष्ठ संन्यासियों के बाद उनके द्वारा चलाये जा रहे कार्य को जारी रखने के लिए निरन्तर और उपयुक्त संख्या में उचित प्रवेशार्थी मिलते रहें।

हिन्दू समाज के आम लोगों की आँखों के सामने ही ये संन्यासीगण सर्वत्र कार्यरत हैं। हमें इस तथ्य को विस्मृत नहीं कर देना चाहिए कि स्वामीजी और उनके गुरुदेव अब भी ऊपर से हमारा और हमारे कार्यों का अवलोकन कर रहे हैं। जब तक हम उनके आदर्शों के प्रति सच्चे बने रहेंगे तब तक हमारे ऊपर उनका आशीर्वाद बना रहेगा। फिर इसके लिए कुछ प्रभावी सुरक्षा-व्यवस्थाएँ भी हैं। मध्यकालीन यूरोपीय संन्यासी संघों से भिन्न रामकृष्ण मिशन एक विधिसम्मत पंजीकृत सेवा-संगठन है। इसका कार्यक्षेत्र जनता के बीच है और इसका हिसाब-किताब भी प्रकाशित होता रहता है। मिशन का प्रबन्ध एक संचालक-मण्डल करता है, जो अपने गृही और संन्यासी दोनों प्रकार के सदस्यों के प्रति उत्तरदायी है। मिशन के शाखा-केन्द्रों की व्यवस्था प्रायः निरपवाद रूप से स्थानीय कमेटियों द्वारा होती है, जिसमें गृही सदस्यों का प्राचुर्य रहता है और इसके अध्यक्ष, सचिव और कोषाध्यक्ष बहुधा ऐसे परोपकारी लोग होते हैं जो श्रीरामकृष्ण के भक्त नहीं भी हो सकते हैं। इस प्रकार यह मिशन प्रचार की पुष्टिकर चकाचौंध के नीचे कार्य कर रहा है, जबकि रोमन कैथलिक मठ निर्जन में अपने क्रियाकलाप चलाते थे। यह रामकृष्ण मठ की कार्यप्रणाली से बिलकुल भिन्न है। ○

संगीतनायक विवेकानन्द

निखिल घोष

(लेखक हमारे देश के एक सुप्रसिद्ध संगीतविद् एवं तबलावादक हैं। सम्प्रति वे अरुण संगीत विद्यालय, खार, बम्बई के प्रधानाचार्य हैं। उनका यह मूल अँगरेजी लेख स्वामीजी की जन्म-शताब्दी के अवसर पर महाराष्ट्र राज्य के स्वामी विवेकानन्द जन्म-शताब्दी समारोह कमेटी के प्रतिवेदन में प्रकाशित हुआ था। अनुवादक हैं स्वामी विदेहात्मानन्द।—स०)

स्वामी विवेकानन्द एक मेधावी सन्यासी, एक महान् सुधारक, एक उत्साही देशभक्त, एक प्रचण्ड वक्ता और एक सुयोग्य संगठक के रूप में अपने सद्गुणों के लिए सुप्रसिद्ध हैं। परन्तु बहुत से लोगों को यह पता नहीं कि वे एक महान् संगीतज्ञ भी थे। आज विश्व के कोटि-कोटि नर-नारी विविध एवं समुचित रूप से स्वामीजी के प्रति श्रद्धांजलियाँ अर्पित कर रहे हैं; एक संगीतज्ञ होने के नाते मैं भारत के समस्त संगीतज्ञों के साथ मिलकर, एक महान् संगीतज्ञ स्वामी विवेकानन्द के प्रति अपनी विनीत श्रद्धांजलि अर्पित करता हूँ।

स्वामीजी के बारे में रोमाँ रोलाँ ने लिखा है—"उनके शब्द महान् संगीत हैं, बीथोवन शैली के टुकड़े हैं, हैंडेल के समवेत गान के छन्द-प्रवाह की भाँति उद्दीपक लय हैं। शरीर में विद्युत्स्पर्श के से आघात की सिहरन का अनुभव किये बिना मैं उनकी वाणी का स्पर्श नहीं कर सकता, जो तीस वर्ष की दूरी पर पुस्तकों के पृष्ठों में बिखरे पड़े हैं। और जब वे नायक के मुख से ज्वलन्त शब्दों के रूप में निःसृत हुए, उस समय तो न जाने कैसे आघात और आवेग उत्पन्न हुए होंगे।" स्वामीजी न केवल शब्दों के अपितु संगीत के भी नायक थे।

परिव्राजक के रूप में अपने भारत-भ्रमण के दौरान स्वामीजी की एकनाथ पण्डित नामक एक वरिष्ठ संगीतज्ञ के साथ मुलाकात हुई, जो एक ध्रुपद गायक थे। स्वामीजी ने उनका संगीत सुनने की इच्छा व्यक्त की। एकनाथ पण्डित के गाने के साथ स्वामीजी मृदंग पर संगत करने लगे। स्वामीजी के इस मृदंगवादन से गायक और श्रोता पूर्णतः सन्तुष्ट हुए। इस कार्यक्रम के पश्चात् होनेवाले वार्तालाप में पता चला कि स्वामीजी एक अच्छे गायक भी हैं, अतः उन लोगों ने स्वामीजी से गाने का भी अनुरोध किया। स्वामीजी तानपूरा उठाकर ध्रुपद का आलाप लेने लगे। फिर जब वे गीत के लय पर आये तो कोई भी मृदंग पर उनकी संगत नहीं कर सका। सहसा ही उन्होंने तानपूरा एकनाथ पण्डित के हाथ में सौंपते हुए मृदंग उठाकर स्वयं ही अपनी संगत करने लगे। इस प्रकार सबको विस्मय के सागर में डुबाते हुए स्वामीजी ने स्वयं दोनों भूमिकाएँ सम्पन्न कीं। इस अद्भुत घटना पर आश्चर्यचकित होकर पण्डितजी कह उठे—"स्वामीजी, आप केवल गायक नहीं, पर नायक हो।"

नायक की उपाधि एक ऐसे संगीतज्ञ को दी जाती है जिसमें सफल प्रदर्शन, संगीत-रचना की क्षमता, संगीतशास्त्र का ज्ञान और श्रोताओं को अभिभूत करने की प्रतिभा हो।

जिन लोगों को संगीत का थोड़ा ज्ञान है, वे इस बात को ठीक-ठीक समझ सकेंगे कि ध्रुपद गायन, जिसमें कि षट्-प्राण और षट्-संगत लगते हैं, की मृदंग पर स्वयं ही संगत कर पाना प्रायः असम्भव-सा है। इन दोनों को एक साथ अकेले ही सफलतापूर्वक कर दिखाना

एक अतिमानवीय कार्य है।

स्वामीजी के जीवन के इस पक्ष को और भी गहराई से समझने की जिज्ञासा के साथ मैं भारत के एक महान् संगीतविद् स्वामी प्रज्ञानानन्दजी के पास गया और उनसे मुझे स्वामीजी के कुछ शिक्षकों और उनकी शिक्षा के बारे में कुछ सूचनाएँ प्राप्त हुईं। स्वामीजी ने सुव्यवस्थित ढंग से ध्रुपद, धमार, खयाल, भजन और टप्पा का अध्ययन किया था। टप्पा के बारे में उनकी राय अच्छी नहीं थी, इस विषय में उनके अपने शब्द मैं आगे उद्धृत करूँगा। विभिन्न शिक्षकों से उन्होंने मृदंग, तबला और सितार भी सीखा। वेणी उस्ताद (वेणीमाधव अधिकारी) और उस्ताद अहमद खाँ से उन्होंने ध्रुपद तथा खयाल सीखा; ब्राह्मसमाज के एक सदस्य श्री काशी घोषाल से उन्होंने एसराज और मृदंग सीखा। उनके समकालीन बंगाल के संगीतज्ञों में प्रमुख थे रवीन्द्रनाथ ठाकुर, त्रैलोक्यनाथ सान्याल और द्विजेन्द्रनाथ ठाकुर।

कहते हैं कि स्वामीजी अपनी संगीत-शिक्षा के दिनों में नियमित रूप से कठोर अभ्यास किया करते थे।

स्वामीजी एक रचनाकार भी थे। परवर्तीकाल में उन्होंने संस्कृत, बँगला और हिन्दी में अनेक रचनाएँ कीं और उन्हें विभिन्न शास्त्रीय रागों एवं तालों के साथ समायोजित किया। उनमें से कुछ का विवरण निम्नलिखित है—

१. रामकृष्ण संघ के सभी केन्द्रों में गायी जानेवाली दैनिक प्रार्थना—'खण्डन भव बन्धन'—राग–यमन, ताल–चौपाल;

२. 'एकरूप अरूप नाम वरण'—राग–बड़ा

हंसमांग, ताल–चौताल;

३. 'नाहि सूर्य नाहि ज्योति'—राग–बागेश्री, ताल–अड़ा या इकवी;

४. 'मुझे वारि बनवारी सैंयाँ'—राग–ठुमरी, ताल–कहरवा।

हाल ही में कलकत्ते से मेरे एक मित्र ने सूचित किया है कि उन्होंने स्वामीजी की एक हस्तलिखित पुस्तिका ढूंढ़ निकाली है, जिसमें तबले पर अनेक रचनाएँ हैं। वह पुस्तिका प्रकाशित भी होनेवाली है। यदि वे उन्तालीस वर्ष की अल्प आयु में देहत्याग न कर देते, तो संगीत-जगत् सम्भवतः उनकी और भी अनेक रचनाएँ पाकर उपकृत होता। संगीत के अन्य किसी भी प्रकार की तुलना में ध्रुपद के प्रति स्वामीजी का बड़ा सम्मान का भाव था। वे कहा करते थे—"जिन सब गीत-वाद्यों मे मनुष्य के हृदय के कोमल भावसमूह उद्दीप्त हो जाते हैं, उन सबको थोड़े दिनों के लिए अब बन्द रखना होगा। ख्याल-टप्पा बन्द करके ध्रुपद का गाना सुनने का अभ्यास लोगों को कराना होगा। वैदिक छन्दों के उच्चारण से देश में प्राण-संचार कर देना होगा।"[१]

परन्तु संगीत के आदर्श रूप के बारे में स्वामीजी ने कहा था—"ध्रुपद और खयाल आदि में एक विज्ञान है। किन्तु कीर्तन अर्थात् माथुर और विरह तथा ऐसी अन्य रचनाओं में ही सच्चा संगीत है, क्योंकि वहाँ भाव है। भाव ही आत्मा है, प्रत्येक वस्तु का रहस्य है।[२] . . .बहुत से लोग सोचते हैं कि भाव मात्र ही

१. 'विवेकानन्द साहित्य', खण्ड ६, पृ. १९७।

२. वही, खण्ड १०, पृ. ३९।

संगीत है, पर ऐसी बात नहीं है। दूसरी ओर, भाव-विहीन परन्तु केवल व्याकरण शास्त्र पर आधारित शब्दों की कसरत भी संगीत नहीं है।...लोकगीतों की मधुरता, शास्त्रीय संगीत का विज्ञान और कीर्तन का भाव—इन्हें मिलाने से ही आदर्श संगीत की सृष्टि होगी।"

स्वरचिह्न और श्रुतियों के बारे में स्वामीजी का कहना था—"युगों पूर्व भारत में संगीत को पूर्ण सप्त स्वरों तक विकसित किया गया था, यहाँ तक कि अर्ध एवं चतुर्थांश स्वर तक भी विकसित हुए थे। भारत ने संगीत में और नाटक तथा स्थापत्य कला में भी नेतृत्व किया। जो कुछ अब किया जा रहा है, वह केवल मात्र अनुकृति का एक प्रयास है। आज भारत में हर बात इस प्रश्न पर आधारित है कि किसी व्यक्ति को जीवन-धारण के लिए कितने कम की आवश्यकता है।"[३]

टप्पा के बारे में उन्होंने कहा—"जो ध्रुपद गाने में दक्ष हैं, उन्हें तो टप्पा कर्कश ही लगता है।...क्या आप सोचते हैं कि टप्पा को नाक में गाते हुए, बिजली के समान एक सुर से दूसरे सुर पर दौड़ना कोई उत्कृष्ट संगीत है? नहीं! जब तक प्रत्येक सुर हर एक स्तर पर पूरा नहीं गाया जाता, उत्कृष्ट संगीत की सृष्टि नहीं हो सकती।...तुम्हारी समझ में यह नहीं आ रहा रहा है कि जब एक स्वर दूसरे स्वर के पीछे इतनी द्रुतगति से आता है, तो केवल संगीत की सुषमा ही नष्ट नहीं होती, वरन् एक प्रकार का बेसुरापन पैदा हो जाता है।"[४]

३. वही, खण्ड १, पृ. २६२–६३।

४. वही, खण्ड ८, पृ. २४७।

पाश्चात्य संगीत में गहराई तक पैठने के बाद स्वामीजी ने उसके बारे में उच्च धारणा बना ली थी। उन्होंने कहा—"...जब मैंने उनके संगीत को ध्यान-पूर्वक सुनना शुरू किया और उस शास्त्र का अध्ययन किया, तो प्रशंसा किये बिना नहीं रह सका। सभी कलाओं का यही हाल है।"[५]

"पर हमारे संगीत में सुरों का आरोह-अवरोह बहुत सुन्दर बन पड़ता है। फ्रांसवालों ने संगीत के इस गुण को पहचाना है और अपने संगीत में अपनाने का प्रयत्न किया है। उनको देखकर यूरोप भर में इसका अनुकरण होने लगा।"[६]

हम स्वामीजी से यही आशीर्वाद माँगते हैं कि वे हमें संगीत के भाव और उद्देश्य को रूपायित करने की प्रेरणा प्रदान करें।

---

५. वही, पृ. २४६।

६. वही, खण्ड ७, पृ. २४७।

○

स्वामी विवेकानन्द : एक बहुमुखी व्यक्तित्व

डा० रमेश चन्द्र मजूमदार

(लेखक केवल भारत के नहीं अपितु विश्व के जाने-माने इतिहासकार रहे हैं। तीन खण्डों में रचित 'History of Freedom Movement in India' तथा ग्यारह बृहत् खण्डों में उनके द्वारा सम्पादित 'History and Culture of Indian People' उनकी उल्लेखनीय कृतियाँ हैं । उन्होंने दर्जनों पुस्तकें लिखी हैं, जिनमें एक है 'Swami Vivekananda : A Historical Review प्रस्तुत लेख 'प्रबुद्ध भारत' के सितम्बर १९४३ अंक से साभार गृहीत और स्वामी विदेहात्मानन्द द्वारा अनुवादित हुआ है।—स०।

अपने सभी महान् व्यक्तियों को एक उपाधि देने की हममें सहज प्रवृत्ति होती है । मानो स्वाभाविक रूप से ही हम उन्हें धर्मनायक, देशभक्त, वीर, कवि, वैज्ञानिक, कलाकार आदि मानने लगते हैं । परन्तु स्वामी विवेकानन्द के नाम के साथ एक ऐसी उपाधि जोड़ने में कठिनाई का बोध होता है । निःसन्देह वे एक महान् अध्यात्म नायक और धर्मशिक्षक थे, परन्तु ऐसा लगता है कि इतने से ही उनका ठीक-ठीक या सटीक वर्णन नहीं हो जाता । हममें से अधिकांश को उनके साक्षात्-सम्पर्क में आने का सुयोग नहीं मिला है, अतः ग्रन्थों के द्वारा ही हम उनके बारे में अपनी धारणा बनाते हैं । जब हम उनके व्याख्यानों, पत्रों एवं पुस्तकों का अध्ययन करते हैं तो अलग अलग समय पर हमारे मनश्चक्षुओं के सामने उनका अलग अलग चित्र प्रकट होता है । कभी हम अपने सम्मुख उन्हें एक महान् धर्मशिक्षक के रूप में पाते हैं, तो कभी राष्ट्र की शक्ति एवं ओज का दोहन करनेवाली राजनीतिक पराधीनता और अन्ध-विश्वासों की शृंखला से मुक्त कराने की तीव्र आकांक्षा से

दहकते एक महान् देशभक्त और समाज-सुधारक के रूप में और कभी कभी वे देश, राष्ट्र आदि की संकीर्ण सीमा से परे एक विराट् अतिमानव, मानवमात्र के बन्धु, अन्तर्राष्ट्रीय प्रेम और सद्भाव के मसीहा प्रतीत होते हैं। ऐसे और भी अनेक रूप हो सकते हैं, और ये सभी समान रूप से गहन और प्रभावशाली हैं। हमारी सामयिक मनःस्थिति एवं आवश्यकता के अनुसार इनमें से स्वामीजी का कोई एक सन्देश हमारे ध्यान को आकृष्ट कर लेता है और हम अन्यों को भूलकर उसी में मुग्ध हो जाते हैं।

भारतभूमि ने असंख्य सन्तों एवं धर्मशिक्षकों को जन्म दिया है, परन्तु उनके सन्देशों में आज के जीवन की समस्याओं का सन्दर्भ और भारत के कोटि-कोटि पीड़ितों के लिए महानुभूति खोज पाना बड़ा ही कठिन होगा, जैसा हम स्वामीजी के लेखों एवं व्याख्यानों में सर्वत्र पाते हैं। कभी कभी तो वे जीवन के अन्य पहलुओं की तुलना में धर्म को गौण स्थान देते प्रतीत होते हैं। यथा निम्नलिखित पंक्तियाँ देखिए—

"वर्तमान समय में ऐसे अनेक मनुष्य हैं, जिन्होंने अपनी ही मुक्ति के लिए संसार का त्याग किया है। तुम सब कुछ दूर फेंको—यहाँ तक कि अपनी मुक्ति का विचार भी दूर रखो—जाओ, दूसरों की सहायता करो।...तुम अपने इस तुच्छ जीवन की बलि देने के लिए तैयार हो जाओ। यदि यह जाति बची रहे तो तुम्हारे और हमारे जैसे हजारों आदमियों के भूखों मरने से भी क्या हानि होगी? यह जाति डूब रही है। लाखों प्राणियों का शाप हमारे सिर पर है...तुम्हारे सामने सबसे महान् कार्य पड़ा है—लाखों

आदमी डूब रहे हैं, उनका उद्धार करो।...पहले रोटी और तब धर्म चाहिए। गरीब बेचारे भूखों मर रहे हैं, और हम उन्हें आवश्यकता से अधिक धर्मोपदेश दे रहे हैं।"*

एक अतीव उच्च कोटि के राजनीतिक विचारक के समान वे भूतकाल के भ्रम में न थे, परन्तु अपनी मातृभूमि के महिमामय भविष्य के बारे में उनका एक सपना था—"...तुम ऊँची जातवाले...तुम लोग हो दस हज़ार वर्ष पीछे के ममी !!...तुम लोग शून्य में विलीन हो जाओ और फिर एक नवीन भारत निकल पड़े। निकले हल पकड़कर, किसानों की कुटी भेदकर, जाली, माली, मोची, मेहतरों की झोंपड़ियों से।"†

जीवन की भौतिक समस्याओं पर प्रकाश डालनेवाले, अतीव उन्नत विचारों से परिपूर्ण ऐसे असंख्य उद्धरण प्रस्तुत किये जा सकते हैं।

स्वामीजी के व्यक्तित्व की यह विविधता प्रारम्भ में तो कुछ पहेली-जैसी प्रतीत होती है, पर ज्यों ज्यों काल व्यतीत होता जाता है और हम उनके उपदेशों का गहराई से अध्ययन करते हैं, तो धीरे धीरे हमें यह बोध होने लगता है कि यह प्रातिभासिक बहुरूपता ही उनके व्यक्तित्व को ठीक ठीक समझने की असली कुंजी है। क्रमश: स्वामीजी का सन्देश हमारे सम्मुख इस प्रकार स्पष्ट होने लगता है कि एक व्यक्ति अपने भावों एवं बुद्धि की विविध अभिव्यक्तियों के बावजूद अखण्ड है और परिणामत: समाज के सम्मुख उपस्थित समस्या भी एकसमान है; क्योंकि समाज तो आखिर-

* 'विवेकानन्द साहित्य', प्रथम संस्करण, खण्ड ५, पृ. ३२१–२२।

† वही, खण्ड ८, पृ. १६७।

कार व्यक्तियों का समूह मात्र है और इस कारण उसी के मूल चरित्र को अभिव्यक्त करता है। आइए हम इसका थोड़ा और बारीकी से निरीक्षण करें।

सामान्यतया हम किसी के भी व्यक्तित्व को खण्ड खण्ड रूप में देखते हैं, जिसका प्रत्येक हिस्सा एक दूसरे से असम्बद्ध और स्वाधीन होता है। इस प्रकार हम धार्मिक, शिक्षित, सम्पन्न, सामाजिक, सुसंस्कृत आदि रूपों में उसकी कल्पना करते हैं और ऐसा समझते हैं मानो मानव-जीवन के विविध पहलू अन्योन्याश्रित न होकर अलग अलग इकाइयाँ हों। इसी प्रकार हम एक समाज या समुदाय को भी विविध कोणों से देखते हैं और उसकी राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक अथवा धार्मिक परिस्थितियों पर अलग अलग विचार करते हैं। इस तरह की विचारधारा का व्यावहारिक परिणाम यह होता है कि इनके सुधार तथा उन्नति के लिए हमारे प्रयास भी खण्ड खण्ड होते हैं अर्थात् एक समय में केवल एक ही पहलू—व्यक्ति अथवा समाज—हमारे ध्यान में आता है। इस विचारपद्धति का अनुसरण करने के फलस्वरूप हमारा ध्यान मानवता के एक अंशविशेष की ओर ही आकृष्ट होता है—बहुधा हमारे अपने ही समाज या समुदाय की ओर—और बाकी सब हमें महत्त्वपूर्ण प्रतीत नहीं होता।

स्वामी विवेकानन्द का सम्पूर्ण जीवन और सन्देश व्यक्ति और समाज के बारे में इस संकीर्ण धारणा के विरोध में एक जेहाद-सा प्रतीत होता है। उनकी दृष्टि में प्रत्येक व्यक्ति विविध बौद्धिक एवं भावनात्मक गुणों का बंडल मात्र न होकर एक ऐसी जीवन्त

इकाई है, जिसके उपादान के विविध घटक एक अखण्ड शक्ति के द्वारा जुड़े हुए हैं। यही वह मुख्य धुरी है, जो व्यक्ति के जीवन और कार्य को नियन्त्रित करती है, और जब तक इस धुरी को नियन्त्रण में नहीं लाया जाता, सुधार के सभी प्रयासों का विफल होना अवश्यम्भावी है। जब तक उसके भीतर की एकात्मता की यह महत्त्वपूर्ण शक्ति भलीभाँति नियन्त्रित नहीं की जाती तब तक धर्म, शिक्षा, सम्पदा और सामाजिक प्रतिष्ठा उसके दृष्टिकोण अथवा चरित्र को प्रभावशाली ढंग से नहीं बदल सकते। स्वामीजी ने कहा, "मुझे सुधार में विश्वास नहीं, मैं तो प्रगति में आस्था रखता हूँ।" इस एक वाक्य में उनके उपदेशों का सार निहित है। व्यक्ति और उसके साथ ही साथ समाज को भी उचित रीति से विकसित होना पड़ेगा। स्वस्थ मिट्टी में एक पौधा पनपेगा, पल्लवित होगा और विकास के नैसर्गिक नियमानुसार पुष्पित भी होगा; परन्तु मृत अथवा बीमार वृक्ष की एक शाखा पर आप टहनियाँ और फूल नहीं उगा सकते।

व्यक्ति एवं समाज को पुनर्जीवन तथा विकास प्रदान करनेवाली शक्ति भीतर से ही निःसृत होगी। स्वामी विवेकानन्द ने बारम्बार ऐसा संकेत दिया है कि आत्मविश्वास तथा शारीरिक बल का अभाव ही हमारी समस्त असफलताओं का मूल कारण है। उन्होंने कहा, "पहले हमारे युवकों को बलवान् बनना होगा। धर्म पीछे आएगा।" पुनः वे कहते हैं, "बलवान् शरीर और मजबूत पुट्ठों से तुम गीता को अधिक समझ सकोगे।"* बल के साथ ही साथ आत्मविश्वास

* वही, खण्ड ५, पृ. १३७।

में भी वृद्धि होनी चाहिए अर्थात् अपनी पवित्रता में, महान् कर्म कर पाने और महान् बन पाने की अपनी सामर्थ्य में भी श्रद्धा बढ़े। यह श्रद्धा और शक्ति हमें उपनिषद् अथवा वेदान्त से प्राप्त होगी, जो हमारे प्राचीन दर्शन की समृद्ध विरासत है तथा भारत में विकसित होनेवाले समस्त धर्मों की आधारभूमि है। यह दर्शन उस आत्मा की धारणा पर आधारित है, जिसे तलवार काट नहीं सकती, अग्नि जला नहीं सकती। हममें से प्रत्येक को यह विश्वास करना होगा कि 'मैं आत्मा हूँ' और इससे हमें शक्ति और श्रद्धा की उपलब्धि होगी। वेदान्त के इस उदात्त उपदेश को स्वामीजी ने दिन-प्रतिदिन के जीवन में प्रतिष्ठित किया। उपनिषद् की शिक्षाएँ केवल संन्यासियों के ध्यान की विषयवस्तु नहीं हैं, जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में उनकी उपयोगिता है। स्वामीजी कहते हैं—"वेदान्त के इन सब महान तत्त्वों का प्रचार आवश्यक है, ये केवल अरण्य में अथवा गिरिगुहाओं में आबद्ध नहीं रहेंगे; वकीलों और न्यायाधीशों में, प्रार्थना-मन्दिरों में, दरिद्रों की कुटियों में, मछुओं के घरों में, छात्रों के अध्ययन-स्थानों में—सर्वत्र ही इन तत्त्वों की चर्चा होगी और ये काम में लाये जाएँगे।"†

स्वामीजी के ये वाक्य शुष्क शब्दरचना मात्र नहीं हैं, वरन् उनका दृढ़ विश्वास था कि 'मछुआ यदि अपने को आत्मा समझकर चिन्तन करे, तो वह एक उत्तम मछुआ होगा। विद्यार्थी यदि अपने को आत्मा विचारे, तो वह एक श्रेष्ठ विद्यार्थी होगा।' आत्मशक्ति और मानवीय दिव्यता की अनुभूति हमें

† वही, खण्ड ५, पृ. १४०।

वह बल और निर्भयता प्रदान करती है, अपनी महानता के प्रति वह आस्था पैदा करती है, जो हमें अपने भीतर से विकसित होकर अपनी समस्याओं का समाधान करने में हमारी सहायता करती है। हमें परेशान करनेवाली समस्त बुराइयों एवं कष्टों को दूर करने का यही एकमात्र उचित उपाय है। मानव मात्र को इसी भाव में अनुप्राणित करना स्वामी विवेकानन्द की दृष्टि में जीवन की सभी व्यक्तिगत, सामाजिक, राष्ट्रीय और यहाँ तक कि अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं को हल करने का मूलसूत्र था। इस महान् तत्त्व को आधार बनाकर विश्व की जड़वादी सभ्यता का अध्यात्मीकरण ही उनका चरम आदर्श था। आम तौर पर धर्म के नाम पर जो समझा जाता है उसका महत्त्व सीमित है, परन्तु वेदान्त में कथित 'अहं ब्रह्मास्मि', 'सोऽहं'—यह आध्यात्मिक तत्त्व प्रत्येक व्यक्ति को न केवल अपने जीवन के बारे सच्ची धारणा कराता है, अपितु मानवजाति की उस अखण्डता को एक अटल आधार भी प्रदान करता है, जिसे सभी तरह के सामाजिक एवं राष्ट्रीय जीवन तथा अन्तर्राष्ट्रीय सद्भाव का मूलाधार बनाया जाना चाहिए। इस प्रकार स्वामी विवेकानन्द ने इन समस्त समस्याओं को एक सामान्य मंच प्रदान किया और भारतीय ऋषियों द्वारा निरूपित आध्यात्मिक सत्यों के व्यापक आधार पर इन सबका एक सामान्य समाधान प्रस्तुत किया। उनका वैशिष्ट्य इसी में है कि उन्होंने जीवन की आम समस्याओं के समाधान में अध्यात्म-तत्त्व की सम्बद्धता दिखायी और उन्हें एक विराट् पूर्ण का अंश माना।

स्वामी विवेकानन्द का वैदान्तिक राष्ट्रवाद

डॉ० टी. एम.पी. महादेवन्

(लेखक अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति के दार्शनिक थे । शांकर वेदान्त में उनकी विशेष गति थी । वे दीर्घकाल तक मद्रास विश्वविद्यालय में दर्शन विभाग के अध्यक्ष रहे । उन्होंने कई महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों की रचना की है । प्रस्तुत लेख अँगरेजी मासिक 'वेदान्त केसरी' के अगस्त १९६३ अंक से साभार गृहीत हुआ है। अनुवादक हैं स्वामी विदेहात्मानन्द ।—स०)

आधुनिक भारत के राष्ट्रवादी नेताओं में सर्व-प्रथम स्वामी विवेकानन्द थे और अपने देश के अनुपम राष्ट्रवाद के लिए हम उन्हीं के ऋणी हैं ।

यूरोपीय इतिहास के मध्यकाल के अन्तिम पर्व में जिस राष्ट्रवाद का प्रादुर्भाव हुआ और जिसके फल-स्वरूप उस महाद्वीप में राष्ट्रवादी राष्ट्रों का उदय हुआ, स्वाभाविक रूप से ही उसका दृष्टिकोण और कार्यक्षेत्र अत्यन्त संकीर्ण था । ये राष्ट्र रोमन चर्च की प्रभुसत्ता से स्वतंत्र हो गये थे और इनमें से प्रत्येक अपने अपने स्वार्थ एवं दावे के साथ एक एक आत्म-केन्द्रित इकाई के रूप में गढ़ उठा था । काल के प्रवाह के साथ इनमें से कुछ यूरोपीय राष्ट्र अतिसमृद्ध और शक्तिशाली हो उठे और अपने ही क्षेत्र में सन्तुष्ट न रह सके । अतः वे एशिया एवं अफ्रीका में फैलकर एक दूसरे से स्पर्धा करते हुए साम्राज्यों का गठन करने लगे; और इनमें से कुछ, जिनमें ब्रिटेन प्रमुख था, महान् औपनिवेशिक शक्तियों के रूप में उभरे । इस प्रकार यूरोपीय राष्ट्रवाद एक राजनीतिक घटना थी, जिसने विस्तारवाद और आक्रामक क्षमता के साथ अपने प्रभावक्षेत्र में आनेवाले घटकों को राजनीतिक

राष्ट्रों के रूप में विकसित होने में सहायता की ।

यूरोपीय विस्तारवाद का एक प्रमुख शिकार—भारत—उनकी उत्कृष्ट शक्ति के समक्ष लाचार हो गया । राजनीतिक विजय प्राप्त हो जाने के बाद इंग्लैण्ड भारतवासियों पर सांस्कृतिक विजय प्राप्त करने को उन्मुख हुआ और इसी उद्देश्य को ध्यान में रखकर भारत में अँगरेजी शिक्षा शुरू की गयी । इस शिक्षा का उद्देश्य था भारतवासियों को एक ऐसी जाति के रूप में गठित करना जो, सर जॉन वुडरॉफ के शब्दों में, अँगरेजों के मानसपुत्र होंगे । भारतवर्ष को अपनी राह पर वापस लाने के लिए प्रथम कर्तव्य था हमारे अँगरेजी-शिक्षा पाये हुए लोगों पर पुनर्विजय प्राप्त करना । सर्वप्रथम उनके मानस में प्रविष्ट इस धारणा के सम्मोहन को नष्ट करना आवश्यक था कि अंगरेज एक उत्कृष्ट जाति है और भारत का उनका उपनिवेश बने रहने में ही भला है। भारतीय पुनर्जागरण के राजा राममोहन राय आदि अग्रदूतों तथा मैक्समूलर आदि पाश्चात्य भारतविदों द्वारा प्राचीन भारतीय ग्रन्थों के प्रकाशन के द्वारा यह कार्य कुछ हद तक सम्पन्न हुआ; पर इस पुनर्जागरण-आन्दोलन के प्रथम महान् सक्रिय नायक थे स्वामी विवेकानन्द । उन्होंने न केवल भारत की सुप्त आत्मा को उसकी अपनी शक्ति एवं सम्भावनाओं में आस्था के रूप में जगाया, अपितु पाश्चात्य देशों को मजबूर किया कि वे भूतकाल में भारत के अन्य देशों पर सांस्कृतिक प्रभाव को और भविष्य की मानवीय प्रगति को सुनिश्चित करने के लिए हमारी अमूल्य विरासत की

महत्ता को स्वीकृति प्रदान करें। इस प्रकार वे भारतीय राष्ट्रवाद की मूल प्रवृत्तियों को निर्धारित करनेवालों में सर्वप्रथम थे। वेदान्त-ज्ञान से प्रादुर्भूत होने के कारण उनका राष्ट्रवाद अभूतपूर्व था और वह अन्तर्राष्ट्रीयतावाद अथवा अखण्ड-विश्व की धारणा का विरोधी नहीं हुआ।

११ सितम्बर १८९३ ई. का दिन भारतवर्ष और साथ ही पाश्चात्य जगत् के इतिहास का भी एक महत्त्वपूर्ण दिन था, क्योंकि इसी दिन शिकागो में आयोजित धर्ममहासभा का उद्घाटन हुआ और उसी दिन स्वामी विवेकानन्द ने अपने एक संक्षिप्त व्याख्यान के द्वारा पाश्चात्य राष्ट्रों के समक्ष भारत को उचित परिप्रेक्ष्य में प्रस्तुत किया। यहाँ तक कि श्रोताओं को सम्बोधित करने के लिए भी उन्होंने जो शब्द चुने—'अमेरिकावासी बहनो और भाइयो!'—उनमें एक सम्पूर्ण दर्शन, वेदान्त द्वारा प्रतिपादित विश्व-एकात्मता का दर्शन, भरा हुआ था। पृथ्वी के नवीनतम राष्ट्र अमेरिका को अभिवादन करने के पश्चात् उन्होंने वैदिक परम्परा के प्राचीनतम संन्यासी-संघ का प्रतिनिधित्व करते हुए अपने सिद्धान्तों की व्याख्या की और हिन्दू धर्मग्रन्थों से दो उद्धरण दिये, जिनमें एक भगवद्गीता और दूसरा एक सुविख्यात स्तोत्र से था और जिनमें यह घोषित किया गया था कि ईश्वरोपलब्धि के पथ अनेक हो सकते हैं, पर उनमें से प्रत्येक पथ साधक को लक्ष्य तक पहुँचाने में सक्षम है। उन्होंने महासभा में समवेत विभिन्न धर्मों के प्रतिनिधियों और उनके माध्यम से सम्पूर्ण जगत्

से यह अनुरोध किया कि वे एक दूसरे के धर्म के प्रति न केवल सहनशील हों, अपितु सहानुभूति का भाव रखें। स्वामीजी ने कहा—"हम लोग सब धर्मों के प्रति केवल सहिष्णुता में ही विश्वास नहीं करते, वरन् समस्त धर्मों को सच्चा मानकर स्वीकार करते हैं। मुझे एक ऐसे देश का व्यक्ति होने का अभिमान है, जिसने इस पृथ्वी के समस्त धर्मों और देशों के उत्पीड़ितों और शरणार्थियों को आश्रय दिया है।" उन्होंने यह भी बताया कि एक दूसरे को धर्मान्तरित करने का प्रयास अर्थहीन है। आदर्श अवस्था ऐसी होगी कि हर व्यक्ति अपने धर्म में रहकर ही उन्नति करता रहे, एक हिन्दू एक बेहतर हिन्दू हो, एक ईसाई एक बेहतर ईसाई हो और एक मुसलमान एक बेहतर मुसलमान हो। स्वामीजी ने आशा व्यक्त की कि इस सभा के सम्मान में जो घण्टा-ध्वनि हुई है, वह समस्त धर्मान्धता का, तलवार या लेखनी द्वारा होनेवाले सभी उत्पीड़नों का, तथा एक ही लक्ष्य की ओर अग्रसर होनेवाले मानवों की पारस्परिक कटुताओं का मृत्यु-निनाद सिद्ध होगी। फिर उपसंहार में उन्होंने कहा—"इस धर्म-महासभा ने जगत् के समक्ष यदि कुछ प्रदर्शित किया है तो वह यह है: उसने यह सिद्ध कर दिया है कि शुद्धता, पवित्रता और दयालुता किसी सम्प्रदायविशेष की ऐकान्तिक सम्पत्ति नहीं है, एवं प्रत्येक धर्म ने श्रेष्ठ एवं अतिशय उन्नतचरित्र स्त्री-पुरुषों को जन्म दिया है। अब इन प्रत्यक्ष प्रमाणों के बावजूद यदि कोई ऐसा स्वप्न देखे कि अन्यान्य सारे धर्म नष्ट हो जाएँगे और केवल उसका ही

धर्म जीवित रहेगा, तो उस पर मैं अपने हृदय के अन्तस्थल से दया करता हूँ और उसे स्पष्ट बतलाये देता हूँ कि शीघ्र ही, सारे प्रतिरोधों के बावजूद, धर्म की पताका पर यह लिखा रहेगा--'सहायता करो, लड़ो मत'; 'परभाव-ग्रहण, न कि परभाव-विनाश'; 'समन्वय और शान्ति, न कि मतभेद और कलह'! "

महासभा में प्रदत्त अपने बाद के व्याख्यानों में और परवर्ती काल में अमेरिका तथा इंग्लैण्ड में दिये अपने सार्वजनिक भाषणों तथा कक्षालापों में स्वामीजी ने वेदान्त के सर्वग्राही दर्शन का प्रतिपादन किया और दिखा दिया कि भारत का धार्मिक इतिहास कैसा भव्य और महिमामण्डित है। फिर उन्होंने यह भी समझाया कि भारत की सामान्य जनता को धर्म की नहीं, अपितु जीवनधारण के भौतिक साधनों की नितान्त आवश्यकता है।

भारत लौटकर स्वामीजी ने पूरे देश का एक तूफानी दौरा किया, जिसके द्वारा उन्होंने लोगों को प्रेरित किया कि वे अपनी मातृभूमि से प्रेम करें और उसकी सर्वांगीण उन्नति के लिए कार्य करें, ताकि इससे सम्पूर्ण विश्व लाभान्वित हो सके। अपने प्रत्येक व्याख्यान में उन्होंने दृढ़ता एवं भावुकतापूर्वक अपने देशवासियों से अनुरोध किया कि वे आपस में संगठित हों, सबल हों और पुनः एक राष्ट्र के रूप में जुड़ जायँ। उन्होंने लोगों को अपनी महानता को समझने और अपनी थाती पर गर्व करने का भी उपदेश दिया।

मद्रास की सभा में स्वामीजी ने जो उद्गार व्यक्त

किये, वे इस प्रकार थे—"मेरे भारत, उठो ! तुम्हारी जीवनी-शक्ति कहाँ है ? वह है तुम्हारी अमर आत्मा में ।. . .प्रत्येक व्यक्ति की भाँति प्रत्येक राष्ट्र का भी एक विशेष जीवनोद्देश्य है । वही उसके जीवन का केन्द्र है, उसके जीवन का प्रधान स्वर है, जिसके साथ अन्य सब स्वर मिलकर समरसता उत्पन्न करते हैं । यदि कोई राष्ट्र अपनी स्वाभाविक जीवन-शक्ति को दूर फेंक देने की चेष्टा करे—शताब्दियों से जिस दिशा की ओर उसकी विशेष गति हुई है, उससे मुड़ जाने का प्रयत्न करे, तो वह राष्ट्र मृत हो जाता है । किसी देश में, जैसे इंग्लैण्ड में, राजनीतिक सत्ता ही उसकी जीवन-शक्ति है । कलाकौशल की उन्नति करना किसी दूसरे राष्ट्र का प्रधान लक्ष्य है । ऐसे ही दूसरे देशों का भी समझो । किन्तु भारतवर्ष में धार्मिक जीवन ही राष्ट्रीय जीवन का केन्द्र है और वही राष्ट्रीय जीवनरूपी संगीत का प्रधान स्वर है । अतएव यदि तुम धर्म को फेंककर राजनीति, समाज-नीति अथवा अन्य किसी दूसरी नीति को अपनी जीवन-शक्ति का केन्द्र बनाने में सफल हो जाओ, तो उसका फल यह होगा कि तुम्हारा अस्तित्व तक न रह जाएगा । समाज-सुधार और राजनीति को तुम्हारे धर्म की उस जीवनी-शक्ति के माध्यम से ही प्रचारित करना होगा । प्रत्येक व्यक्ति को और उसी भाँति प्रत्येक राष्ट्र को अपना अपना मार्ग चुन लेना पड़ता है । हमने युगों पूर्व अपना पथ निर्धारित कर लिया था, और वह है अविनाशी आत्मा में दृढ़ विश्वास । मैं चुनौती के साथ कहता हूँ कि तुम इसे

कभी छोड़ नहीं सकते । सोचो, अपना स्वभाव भला कैसे बदल सकते हो ?"

परन्तु धर्म को भ्रमपूर्ण दुर्बलता नहीं समझ लेना चाहिए । स्वामीजी ने कहा––"हमारे देश के लिए इस समय आवश्यकता है लोहे की तरह ठोस मांस-पेशियों और मजबूत स्नायुवाले शरीरों की । आवश्यकता है इस तरह से दृढ़ इच्छा-शक्ति सम्पन्न होने की कि कोई उसका प्रतिरोध करने में समर्थ न हो । आवश्यकता है ऐसी अदम्य इच्छा-शक्ति की, जो ब्रह्माण्ड के सारे रहस्यों को भेद सकती हो । यदि यह कार्य करने के लिए अथाह समुद्र के मार्ग में जाना पड़े, सदा सब तरह से मौत का सामना करना पड़े, तो भी हमें यह काम करना ही पड़ेगा । यही हमारे लिए परम आवश्यक है और इसका आरम्भ, स्थापना और दृढ़ीकरण अद्वैतवाद अर्थात् सर्वात्मभाव के महान् आदर्श को समझने तथा उसके साक्षात्कार से ही सम्भव है ।"

अद्वैत-वेदान्त के दर्शन को सक्रिय राष्ट्रवाद का रूप देते हुए स्वामी विवेकानन्द ने कहा कि हमें ईश्वर को ढूँढ़ना होगा––आकाश में नहीं, वरन् प्रत्येक जीव के हृदय में, और विशेषकर निर्धनों-पीड़ितों के हृदय में । "हमारा देश ही हमारा जाग्रत् देवता है । सर्वत्र उसके हाथ हैं, सर्वत्र उसके पैर हैं और सर्वत्र उसके कान हैं । समझ लो कि दूसरे देवी-देवता सो रहे हैं । जिन व्यर्थ के देवी-देवताओं को हम देख नहीं पाते, उनके पीछे तो हम बेकार दौड़ें और जिस विराट् देवता को हम अपने चारों ओर देख रहे हैं,

उसकी पूजा ही न करें? जब हम इस प्रत्यक्ष देवता की पूजा कर लेंगे, तभी हम दूसरे देव-देवियों की पूजा करने योग्य होंगे, अन्यथा नहीं।"

स्वामीजी ने तथाकथित सुधारकों से कहा कि जब तक वे आम जनता को दरिद्रता और दुर्दशा की अवस्था से उबार न लें, तब तक निश्चिन्त न हों; फिर उन्हें यह भी चाहिए कि वे अपने कार्य अहंभाव से नहीं वरन् ईश्वर की सेवा के भाव से करें। वे लोग वृथा निन्दावाद को छोड़कर रचनात्मक कार्यों में लग जाएँ। भूखे लोगों को धर्म का उपदेश सुनाने से कोई लाभ नहीं। पहले पाश्चात्य विज्ञान और प्रौद्योगिकी की सहायता से भारत को शारीरिक दृष्टि से बलवान् और भौतिक दृष्टि से समृद्ध बनाना होगा।

परन्तु हमारा सर्वोपरि लक्ष्य होगा आध्यात्मिकता को बढ़ावा देना। आध्यात्मिकता ही भारत का मेरुदण्ड है। हम कभी एक विजेता राष्ट्र नहीं रहे। भूतकाल में भी हम धर्म के क्षेत्र में ही विजय-अभियान करते रहे। प्राच्य एवं पाश्चात्य के अन्यान्य राष्ट्रों ने हमारे आदर्शों एवं धारणाओं को स्वीकृति प्रदान की है, परन्तु इसके लिए हमने कभी जोर-जबरदस्ती का सहारा नहीं लिया। "हमने कभी बन्दूक और तलवार के बल पर अपने विचारों का प्रचार नहीं किया।" कोलम्बो में प्रदत्त अपने प्रथम प्राच्य व्याख्यान में ही स्वामीजी ने घोषित किया— "आध्यात्मिक आलोक ही विश्व को भारत का उपहार है।" एक बार फिर वह ज्योति भारत से निःसृत होकर अन्धकार से आच्छन्न विश्व को आलो-

कित करे—यही उनकी हार्दिक महत्त्वाकांक्षा थी।

वेदान्त का आध्यात्मिक आलोक ही भारत की वह बहुमूल्य धरोहर है। वेदान्त में संकीर्णता के लिए कोई जगह नहीं। स्वामीजी पूछते हैं—"मानवात्मा की इस परम अद्भुत रचना, ईश्वर की इस अद्भुत वाणी—वेदान्त—के अतीव अद्भुत, युक्तिसम्मत, उदार एवं उदात्त विचारों को छोड़ ऐसा और क्या है जो सभ्य मानव की निष्ठा को आकृष्ट करे?" वेदान्त हमारा राष्ट्रीय दर्शन है, पर विषयवस्तु की दृष्टि से यह अन्तर्राष्ट्रीय और सार्वभौमिक है। उन्हीं के शब्दों में, "उपनिषदों का दर्शन—वेदान्त—मानव को अनादि काल से प्राप्त हुए आध्यात्मिक विचारों में प्रथम और अन्तिम बात है।"

देशभक्त, सन्त, स्वामी विवेकानन्द के वैदान्तिक राष्ट्रवाद ने ही महात्मा गाँधी की नैतिक राजनीति को दिशा प्रदान की, जिसके द्वारा भारत मुक्त और स्वाधीन हुआ। स्वामीजी के नेतृत्व में ही भारत उद्धत राष्ट्रवाद के संकीर्ण एवं खतरनाक रास्ते से बचकर सर्वोदय और आध्यात्मिक एकता के लक्ष्य को पाने के लिए सह-अस्तित्व एवं सहकार के मार्ग पर चल रहा है।

○

जूठी चिलम

रामधारी सिंह 'दिनकर'

(राष्ट्रकवि 'दिनकर' ने अपने सुप्रसिद्ध ग्रन्थ 'संस्कृति के चार अध्याय' में 'धर्म के जीते-जागते स्वरूप श्रीरामकृष्ण' तथा 'कर्मठ वेदान्त स्वामी विवेकानन्द' शीर्षक से दो हृदयग्राही प्रबन्ध लिखे हैं, जिन्हें हम 'विवेक-ज्योति' के प्रथम वर्ष के प्रथम दो अंकों में मुद्रित कर चुके हैं। उनकी प्रस्तुत कविता स्वामीजी के जीवन की एक विशेष घटना पर आधारित है। —स०)

शिष्यों को कर शोक-मग्न
हो गये ब्रह्म में लीन
रामकृष्ण जो परम धर्म की
मूर्ति, स्नेह के स्वर थे।
कुछ विषाद, कुछ बेचैनी,
घबराहट से हो दीन
निकल पड़े सब शिष्य साधना
के निमित्त घर-घर से।
उन शिष्यों के मुकुट वीरवर
सन्त विवेकानन्द
नगर, ग्राम, वन, विजन, सभी
स्थानों में घूम रहे थे।
प्रथम देश-दर्शन से पा
प्रेरणा और आनन्द
देशभक्ति के भावों से
पूरित हो झूम रहे थे।
चलते-चलते एक दिवस
देखा कि खेत के पास
एक व्यक्ति ले चिलम मस्त
होकर दम खींच रहा है;

फैलाता तम्बाकू का सब
ओर महकता वास
घोंट रहा है धुआँ मग्न,
कुछ आँखें मींच रहा है ।
स्वामीजी ने कहा विरम कर—
"भला करें भगवान ।
जो सुख लूट रहे, वह क्या
मुझको भी पाने दोगे ?
तम्बाकू की खुशबू से
मेरी भी है पहचान ।
बन्धु, एक दम इस सुलफे में
मुझे लगाने दोगे ?"
तम्बाकू पीने वाले ने कहा—
"हाय, महराज !
पाप कमा कर भला जगत में
हम किस भाँति जिएँगे ?
आप साधु हैं, लेकिन मेहतर
कहता हमें समाज ।
किस प्रकार फिर आप हमारी
जूठी चिलम पिएँगे ?"
यह उत्तर सुन कर आगे
बढ़ गये विवेकानन्द ।
पर तुरन्त लौटे. अन्तर में
गाँस कहीं पर खाकर ।
"मूढ़, अभी तक भी बाकी है
जात-पाँत का द्वन्द्व ?

तू कायथ ही रहा शिखा
कटवा कर, सूत्र जला कर ।"
चिलम छीन कर पी ली
स्वामीजी ने आँखें मूँद ।
खड़ा देखता रहा ठगा-सा
वह मेहतर बेचारा ।
टपकी दृग से उमड़ मौन
आनन्द-जलधि की बूँद ।
स्वामीजी ने और जोर से
सुलफे में दम मारा ।

○

जब भी स्वामीजी 'मैं' शब्द का प्रयोग करते, वे ब्रह्म से एकरूप होकर ही वैसा करते और उससे उनका तात्पर्य होता विश्वात्मा । . . . 'मैं' शब्द का उच्चारण मात्र ही स्वामीजी को शरीर, मन और इन्द्रियों के परे ले जाता । यह उनकी चेतना की सामान्य अवस्था थी । ओह ! हम लोगों ने स्वामीजी को कैसा देखा है ! उनकी अन्तिम बीमारी में जब वे मुश्किल से साँस ले पाते थे, उस समय भी गरजते रहते—'उठो ! जागो !'

—स्वामी तुरीयानन्द

टाटा का स्वामी विवेकानन्द को पत्र

(श्री जमशेदजी टाटा स्वामीजो से सर्वप्रथम जहाज में मिले थे, जैसा कि उनका पत्र सूचित करता है। स्वामीजी के धर्म और विज्ञान पर विचारों को सुनकर टाटा अत्यन्त प्रभावित हुए थे। स्वामीजी धर्म और विज्ञान को समाज-पक्षी के दो पंख मानते। उनका मत था कि जब तक दोनों का सन्तुलित विकास नहीं होता है, जब तक ये दोनों पंख समान रूप से बली नहीं होते हैं, तब तक उन्नति ठीक ढंग से नहीं हो पाती है। विज्ञान मनुष्य की भौतिक प्रगति में सहायक हो उसका अभ्युदय साधित करेगा और धर्म उसकी आध्यात्मिकता को पुष्ट कर उसे निःश्रेयस प्रदान करेगा। जमशेदजी ने अपने पत्र में जिस वैज्ञानिक अनुसन्धान संस्थान की बात लिखी है, उसकी स्थापना में स्वामीजी का योगदान बहुत बड़ा था। यह संस्थान 'इण्डियन इंस्टीट्यूट ऑफ साइन्स' के नाम से बॅंगलौर में स्थापित हुआ।—स०)

प्रिय स्वामी विवेकानन्द,

मैं विश्वास करता हूँ कि आपको याद होगा जापान से शिकागो तक की समुद्र-यात्रा में मैं भी आपके साथ सहयात्री था। आपने भारत में संन्यास-भावना की वृद्धि पर जो विचार प्रस्तुत किये थे कि उसका नाश काम्य नहीं है बल्कि उसे उपयोगी दिशा में मोड़ देना है, उसकी इस समय मुझे बहुत याद आ रही है।

भारत के लिए मेरी 'रिसर्च इंस्टीट्यूट ऑफ साइन्स' (वैज्ञानिक अनुसन्धान संस्थान) की जो योजना है, आपकी कही बातों का ख्याल मुझे उसके सन्दर्भ में आ रहा है। आपने भी मेरी इस योजना के बारे पढ़ा या सुना होगा। मुझे ऐसा लगता है कि संन्यास-भावना का इससे अच्छा उपयोग और नहीं हो सकता कि इस भावना से अनुप्राणित लोगों के लिए मठ या आवास-कक्ष बना दिये जायँ, जहाँ

पर वे लोग आवश्यक सुविधाओं के साथ शालीनतापूर्वक रह सकें और अपना जीवन भौतिक तथा मानवतावादी विज्ञानों के अभिवर्धन हेतु खपा सकें। मेरा मत है कि यदि एक सुयोग्य नेता के द्वारा इस प्रकार की संन्यास-भावना के पक्ष में जिहाद छेड़ दिया जाय, तो उससे संन्यास-भावना, विज्ञान और हमारी इस मातृभूमि के यश को बड़ी मदद मिलेगी। मुझे पता नहीं कि विवेकानन्द को छोड़ इस अभियान का और कौन बेहतर नायक हो सकता है? अपनी प्राचीन वैज्ञानिक परम्पराओं को संजीवित करने के इस अभियान को समय देना क्या आपके लिए सम्भव हो पाएगा? लोगों को इस सम्बन्ध में जागरूक करने के लिए शायद एक जोशीले प्रचार-पत्र के प्रकाशन से काम शुरू करना आपके लिए बेहतर होगा। इस प्रकाशन का सारा खर्च वहन करने में मुझे प्रसन्नता होगी।

सद्भावनाओं के साथ,

२३ नवम्बर १८९८ — आपका विश्वासपात्र,

एस्प्लनेड हाउस, बम्बई — जमशेदजी एन. टाटा

○

हमारे गुरुदेव और उनका सन्देश

भगिनी निवेदिता

(लेखिका, मिस मार्गरेट नोबल, स्वामी विवेकानन्द की शिष्या थीं। उन्होंने स्वामीजी के निर्देश पर अपना जीवन भारत की नारी-शक्ति के उन्नयन के लिए न्यौछावर कर दिया और इस प्रकार स्वामीजी द्वारा प्रदत्त अपना 'निवेदिता' नाम सार्थक कर लिया। उनका प्रस्तुत लेख उनके द्वारा 'विवेकानन्द साहित्य' के मूल अँगरेजी संस्करण हेतु लिखी गयी भूमिका से अंशतः गृहीत हुआ है।—स०)

...विश्व-धर्म-महासभा के सम्मुख स्वामीजी के अभिभाषण के सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है कि जब उन्होंने अपना भाषण प्रारम्भ किया, तो विषय था 'हिन्दुओं के धार्मिक विचार', किन्तु जब उन्होंने अन्त किया, तब तक हिन्दू धर्म की सृष्टि हो चुकी थी। इस सम्भावना के लिए समय भी परिपक्व हो चुका था। उनके सम्मुख उपस्थित विशाल श्रोता-समूह पाश्चात्य विचार-धारा का ही प्रतिनिधि था, लेकिन इसमें जो परमोत्कर्ष विशिष्टता है, उस सबका विकास भी श्रोताओं में विद्यमान था। अमेरिका को, विशेष रूप से शिकागो को, जहाँ यह सम्मेलन हुआ, यूरोप के प्रत्येक राष्ट्र ने अपने मानवीय योगदान से आप्लावित किया है। आधुनिक उद्योग और संघर्ष के बहुत कुछ उत्कृष्ट और उनमें से कुछ निकृष्ट भाव पश्चिम की इस नगरों की रानी की सीमाओं के भीतर मिलते हैं, जिसके पदतल—जब वह अपनी आँखों में उत्तर का प्रकाश भरकर बैठती और चिन्तामग्न होती है—मिशिगन झील के तट पर हैं। आधुनिक ज्ञान में ऐसा बहुत कम है, यूरोप के अतीत से उत्तराधिकार में प्राप्त ऐसा बहुत कम है, जिसकी कोई न कोई चौकी शिकागो की नगरी में न विद्यमान हो।

और जहाँ हममें से कुछ को इस केन्द्र का जनसंकुल जीवन और अधीर उत्सुकता अभी निरी विशृंखल ही क्यों न प्रतीत हों, फिर भी इसमें कोई सन्देह नहीं कि वे मानवीय एकता के किसी महान् किन्तु धीर संचारी आदर्श को उस समय व्यक्त करने की चेष्टा कर रहे हैं, जब उनकी परिपक्वता के दिन पूर्ण हो जाएँगे।

ऐसी मनोवैज्ञानिक भूमि थी, ऐसा मानस-सागर था--तरुण, तुमुल तथा अपनी शक्ति और आत्मविश्वास से उफनाता, फिर भी जिज्ञासु और जागरूक--जो भाषण आरम्भ करते समय विवेकानन्द के सम्मुख था। इसके ठीक विपरीत, उनके पीछे युग-युग के आध्यात्मिक विकास का प्रशान्त सागर था। उनके पीछे एक संसार था, जो अपनी काल-गणना वेदों से करता है और अपनी याद उपनिषदों में करता है--एक संसार, जिसकी तुलना में बौद्ध धर्म प्रायः आधुनिक है, एक संसार--मत-मतान्तरों की धार्मिक व्यवस्थाओं से पूर्ण, उष्ण-कटिबन्ध की सूर्य-रश्मियों से स्नात शान्त देश, जिसकी सड़कों की रज पर युग-युगान्तर से सन्तों के चरण-चिह्न अंकित होते रहे थे। संक्षेप में, उनके पीछे था वह भारत--सहस्रों वर्षों के अपने राष्ट्रीय विकास के साथ--जिनमें उसने अपने देश और काल के महान् विस्तार के एक छोर से दूसरे छोर तक अपने समस्त देशवासियों द्वारा सामान्य रूप से मान्यता प्राप्त कुछ मौलिक और सारभूत सत्यों का पता लगाया है, अनेक बातें सिद्ध की हैं, और केवल एक पूर्ण मतैक्य को छोड़कर, लगभग सबको सिद्ध किया है।

तो यही थे वे दो मानस-प्लावन, प्राच्य और अधुनातन चिन्तन के मानो दो प्रबल महानद। धर्म-महासभा के

रंगमंच पर विद्यमान गैरिक वसन-मण्डित यह परिव्राजक एक क्षण के निमित्त इन दोनों प्लावनों का संगम-बिन्दु बन गया। हिन्दू धर्म के सामान्य आधारों का सूत्रीकरण इस परम निर्वैयक्तिक व्यक्तित्व से उन प्लावनों के सम्पर्क के आघात का अपरिहार्य परिणाम था। स्वामी विवेकानन्द के अधरों से जो शब्द उच्चरित हुए, वे स्वयं उनके अनुभवजनित नहीं थे। न उन्होंने अपने गुरुदेव की कथा सुनाने के निमित्त ही इस अवसर का उपयोग किया। इन दोनों के स्थान पर, भारत की धार्मिक चेतना——सम्पूर्ण अतीत द्वारा निर्धारित उनके समग्र देशवासियों का सन्देश ही उनके माध्यम से मुखर हुआ था। और जब वे पश्चिम के यौवन और मध्याह्न में बोल रहे थे, तब प्रशान्त के दूसरी ओर, तमसाच्छन्न गोलार्ध की छायाओं में प्रसुप्त एक राष्ट्र अपनी ओर गतिमान अरुणोदय के पंखों पर आनेवाली और उसके प्रति स्वयं उसके ही महत्त्व और शक्ति का रहस्य उद्घाटित करनेवाली वाणी की प्रतीक्षा अपनी आत्मा में कर रहा था।

उसी धर्म-महासभा के मंच पर स्वामी विवेकानन्द के अतिरिक्त विशिष्ट मतों और संघों के धर्मदूत भी उपस्थित थे। किन्तु एक ऐसे धर्म का प्रचार करने का गौरव उन्हीं को था, जिस तक पहुँचने के लिए इनमें से प्रत्येक, उन्हीं के शब्दों में, विविध अवस्थाओं और परिस्थितियों के द्वारा उसी एक लक्ष्य तक पहुँचने के निमित्त 'विभिन्न स्त्री-पुरुषों की यात्रा, प्रगति मात्र' है। और जैसा कि उन्होंने घोषित किया, वे वहाँ एक ऐसे महापुरुष का परिचय देने के लिए खड़े हुए थे, जिसने इन सभी मत-मतान्तरों के विषय में कहा है कि ऐसा नहीं है कि इनमें से

कोई एक या दूसरा, इस या उस पक्ष में, इस या उस कारण, सत्य या असत्य है, वरन् 'मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव' (गीता, ७/७)—'यह सब सूत्र में मोतियों की भाँति मुझमें ही पुहे हुए हैं।' 'जहाँ मानव-जाति को पवित्र और उसका उन्नयन करती असामान्य पवित्रता, असामान्य शक्ति, तेरे देखने में आए, तू जान कि मैं वहाँ हूँ' (गीता, १०/४१)। विवेकानन्द का कहना है कि एक हिन्दू की दृष्टि में 'मनुष्य भ्रम से सत्य की ओर नहीं जाता, वरन् सत्य से सत्य की ओर अग्रसर होता है; निम्नतर सत्य से उच्चतर सत्य की ओर जाता है।' यह, तथा मुक्ति का यह सिद्धान्त कि 'मनुष्य को ईश्वर का साक्षात्कार करके ईश्वर होना है', यह सत्य कि धर्म केवल तभी हममें पूर्णता को प्राप्त करता है, जब वह हमें 'उस तक ले जाता है, जो मृत्यु के संसार में एकमात्र जीवन है, उस तक जो नित्य परिवर्तनशील जगत् का चिरन्तन आधार है, उस एक तक ले जाता है, जो केवल आत्मा ही है, अन्य सभी आत्माएँ जिसकी भ्रान्त अभिव्यक्तियाँ मात्र हैं'—ये दो महान् विशिष्ट सत्यों के रूप में मान्य हो सकते हैं। भारत ने मानव-इतिहास की दीर्घतम और जटिलतम अनुभूति के द्वारा प्रमाणीकृत इन दोनों सत्यों को उनके माध्यम से पश्चिम के आधुनिक जगत् में घोषित किया।

स्वयं भारत के लिए, जैसा पहले ही कहा जा चुका है, यह संक्षिप्त अभिभाषण मताधिकार की एक छोटी सी सनद थी। वक्ता ने हिन्दू धर्म को सर्वांगतया वेदों पर आधारित किया है; किन्तु वेद सम्बन्धी हमारी धारणा का वे इस शब्द के उच्चारण मात्र से ही अध्यात्मीकरण

कर देते हैं। उनके निकट, जो कुछ सत्य है, वह सब वेद है। वे कहते हैं, "वेदों का अर्थ कोई ग्रन्थ नहीं है। वेदों का अर्थ है, विविध समयों पर विभिन्न व्यक्तियों द्वारा आविष्कृत आध्यात्मिक नियमों का संचित कोष।" प्रसंग-वश वे सनातन धर्म के सम्बन्ध में अपने विचार को भी प्रकट करते हैं। 'विज्ञान की नूतनतम खोजें जिसकी प्रति-ध्वनि-जैसी लगती हैं, उस वेदान्त-दर्शन के उच्च आध्यात्मिक स्तरों से लेकर, विविधतामय पौराणिकतायुक्त मूर्ति-पूजा के निम्नतम विचार, बौद्धों के अज्ञेयवाद और जैनों के निरीश्वरवाद तक प्रत्येक और सबका स्थान हिन्दू धर्म में है।" उनकी दृष्टि में भारतवासियों का कोई भी मत, सम्प्रदाय अथवा कोई भी सच्ची धर्मानुभूति--वह किसी को कितनी ही धूमिल क्यों न प्रतीत हो--ऐसी नहीं है, जिसे हिन्दू धर्म की बाहुओं से औचित्यपूर्वक बहिष्कृत किया जा सके। और उनके अनुसार इस भारतीय धर्म-माता का विशिष्ट सिद्धान्त है इष्टदेवता--हर आत्मा को अपने मार्ग को चुनने तथा ईश्वर को अपने ढंग से खोजने का अधिकार। अतः इस प्रकार से परिभाषित हिन्दू धर्म के बराबर विराट् साम्राज्य की पताका का वहन कोई अन्य वाहिनी नहीं करती; क्योंकि जिस प्रकार ईश्वर की प्राप्ति इसका आध्यात्मिक लक्ष्य है, उसी प्रकार इसका आध्यात्मिक नियम है प्रत्येक आत्मा की स्वस्वरूप में प्रतिष्ठित होने की पूर्ण स्वतंत्रता। . . .

यदि हिन्दू धर्म में दूत के रूप में उनका कुछ अपना होता, तो स्वामी विवेकानन्द, जो कुछ थे, उससे कम महान् सिद्ध हुए होते। गीता के कृष्ण की भाँति, बुद्ध की भाँति, शंकराचार्य की भाँति, भारतीय चिन्तन के अन्य

प्रत्येक महान् विचारक की भाँति, उनके वाक्य भी वेदों और उपनिषदों के उद्धरणों से परिपूर्ण हैं। भारत के पास जो अपनी ही विधियाँ सुरक्षित हैं, भारत के प्रति उनके मात्र उद्घाटक और भाष्यकार के रूप में ही स्वामीजी का महत्त्व है। यदि वे कभी जन्म ही न लेते, तो भी जिन सत्यों का उपदेश उन्होंने किया, वे वैसे ही सत्य बने रहते। यही नहीं, वे सत्य उतने ही प्रामाणिक भी बने रहते। अन्तर केवल होता, उनकी प्राप्ति की कठिनाई में, उनकी अभिव्यक्ति के आधुनिक स्पष्टता और तीक्ष्णता के अभाव में और उनके पारस्परिक सामंजस्य एवं एकता की हानि में। यदि वे न होते, तो आज सहस्रों लोगों को जीवन-दायी सन्देश प्रदान करनेवाले वे ग्रन्थ पण्डितों के विवाद के विषय ही बने रह जाते। उन्होंने एक पण्डित की भाँति नहीं, एक अधिकारी व्यक्ति की भाँति उपदेश दिया, क्योंकि जिस सत्यानुभूति का उपदेश उन्होंने किया, उसकी गहराइयों में वे स्वयं ही गोता लगा चुके थे और रामानुज की भाँति उसके रहस्यों को चाण्डाल, जाति-बहिष्कृत और विदेशियों को बतलाने के निमित्त ही वे वहाँ से लौटे थे।

किन्तु फिर भी यह कथन कि उनके उपदेशों में कुछ नवीनता नहीं है, पूर्णतः सत्य नहीं है। यह कभी नहीं भूलना चाहिए कि ये स्वामी विवेकानन्द ही थे, जिन्होंने अद्वैत दर्शन के श्रेष्ठत्व की घोषणा करते हुए कहा था कि इस अद्वैत में यह अनुभूति समाविष्ट है, जिसमें सब एक हैं, जो एकमेवाद्वितीय है; पर साथ साथ उन्होंने हिन्दू धर्म में यह सिद्धान्त भी संयोजित किया कि द्वैत, विशिष्टा-द्वैत और अद्वैत एक ही विकास के तीन सोपान या स्तर हैं, जिनमें अन्तिम अद्वैत ही लक्ष्य है। यह एक और भी

महान्, तथा अधिक सरल, इस सिद्धान्त का अंग है कि अनेक और एक, विभिन्न समयों पर विभिन्न वृत्तियों में मन के द्वारा देखे जानेवाला एक ही तत्त्व है; अथवा जैसा श्रीरामकृष्ण ने उसी सत्य को इस प्रकार व्यक्त किया है, "ईश्वर साकार और निराकार दोनों ही है। ईश्वर वह भी है, जिसमें साकार और निराकार दोनों ही समाविष्ट हैं।" यही वह वस्तु है, जो हमारे गुरुदेव के जीवन को सर्वोच्च महत्त्व प्रदान करती है, क्योंकि वहाँ से पूर्व और पश्चिम के ही नहीं, भूत और भविष्य के भी संगम-बिन्दु बन जाते हैं। यदि एक और अनेक सचमुच एक ही सत्य हैं, तो केवल उपासना के ही विविध प्रकार नहीं, वरन् सामान्य रूप से कर्म के भी सभी प्रकार, संघर्ष के सभी प्रकार, सर्जन के सभी प्रकार भी, सत्य साक्षात्कार के मार्ग हैं। अतः लौकिक और धार्मिक में अब आगे कोई भेद नहीं रह जाता। कर्म करना ही उपासना करना है। विजय प्राप्त करना ही त्याग करना है। स्वयं जीवन ही धर्म है। प्राप्त करना और अपने अधिकार में रखना उतना ही कठोर न्यास है, जितना कि त्याग करना और विमुख होना। . . .

○

पूर्ण कुम्भ मेला शिविर—१९८९

अपील

प्रयागराज में इस बार पूर्ण कुम्भ मेला जनवरी-फरवरी, १९८९ में लग रहा है। देश के कोने-कोने से तथा बाहर से भी लगभग डेढ़ करोड़ यात्री इस मेले में भाग लेंगे, जिनमें साधु-संन्यासी भी प्रचुर संख्या में रहेंगे। इन साधु-संन्यासियों एवं यात्रियों जिनमें से कई कल्पवासी भी होंगे, की चिकित्सा-सेवा के लिए विशेष व्यवस्था आवश्यक होगी। हमारी यह संस्था, पूर्व वर्षों की ही भाँति, मेला मैदान में इन यात्रियों और साधु-संन्यासियों की निःशुल्क चिकित्सा के लिए एक शिविर का आयोजन करने जा रही है, जिसमें एलोपैथिक और होमियोपैथिक औषधालय होंगे तथा प्रथमोपचार की व्यवस्था भी। इस सेवा-कार्य के लिए हमें चिकित्सकों, कम्पाउंडरों, अन्य चिकित्सा सहायकों तथा स्वयंसेवकों की आवश्यकता होगी। फिर, लगभग तीन सौ यात्रियों तथा एक सौ साधुओं और स्वयंसेवकों के आवास एवं भोजन की भी इस शिविर में व्यवस्था रहेगी। शिविर में नित्य सत्संग एवं उपासना-प्रार्थना आदि के लिए एक अस्थायी मन्दिर-पंडाल भी रहेगा। इस प्रकार इस शिविर के आयोजन में लगभग चार लाख रुपये की लागत कूंती गयी है। हमारा यह सेवाश्रम जनता-जनार्दन से अनुरोध करता है कि पूर्व वर्षों की ही भाँति वे इस बार भी अपना उदार आर्थिक सहयोग इस पुण्य सेवा-कार्य के लिए प्रदान कर हमें अनुग्रहित करें। दान नगद या चेक/बैंक ड्राफ्ट द्वारा निम्नलिखित पते पर भेजे जा सकते हैं। अनुरोध है कि चेक/बैंक ड्राफ्ट **'रामकृष्ण मिशन सेवाश्रम, इलाहाबाद'** के नाम काटें और **'केवल प्राप्तकर्ता'** लिखकर उसे क्रास कर दें। निम्नलिखित बातें ज्ञातव्य हैं :—

(१) रामकृष्ण मिशन सेवाश्रम को दिये गये दान आयकर अधिनियम, १९६१ की धारा ८०-जी के अन्तर्गत आयकर से मुक्त हैं।

(२) स्नान की महत्त्वपूर्ण तिथियाँ हैं—१४ जनवरी (मकर संक्रान्ति), २१ जनवरी (पौष पूर्णिमा), ६ फरवरी (मौनी अमावस्या), १० फरवरी (वसन्त पंचमी) तथा २० फरवरी (माघ पूर्णिमा)।

(३) जो कुम्भ मेला के समय हमारे शिविर में निवास और भोजन की सुबिधा चाहते हैं, वे हमें लिखकर नियमावली मँगा लें और तदनुसार अग्रिम राशि जमा कर अपनी सीट सुरक्षित करा लें।

रामकृष्ण मिशन सेवाश्रम
मुट्ठीगंज, इलाहाबाद (उ.प्र.)
पिन—२११ ००३

भवदीय,
स्वामी हर्षानन्द
सचिव

○